Chapter-4

## चतुर्थ परिच्छेद :

# "गुजरात के सन्त-कवियों की दार्शनिक विचारधारा" :

## चतुर्थ परिच्छेद

## "गुजरात के सन्त कवियों की दार्शनिक विचारधारा"

**पृष्ठभूमि :**

गुजरात के हिन्दी-सेवी सन्तों के जीवन एवं कृतित्व का अध्ययन करने के उपरान्त उनके दार्शनिक विचारों की ओर हमारी दृष्टि सहज ही आकर्षित होती है। गुजरात के सन्तों की साधना-पद्धति जहाँ एक ओर उपनिषद् और वेदान्त के अद्वैत-दर्शन से प्रभावित है वहाँ दूसरी ओर यह सूफियों की प्रेम-भावना तथा वैष्णवों की प्रेमलक्षणाभक्ति से समन्वित है। साथ ही, इनकी विचारधारा के मूल में योग, सांख्य तथा गीता के कर्मवाद का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। वस्तुत: वे सभी दर्शन-पद्धतियाँ तथा प्रणालिकाएँ जिन्होंने उत्तरी भारत की समग्र सन्त परम्परा को प्रभावित किया है, गुजरात की सन्त साधना के मूल में दिखायी देती हैं। अत: प्रस्तुत परिच्छेद के अन्तर्गत सर्व प्रथम हम उन प्रमुख दर्शन-पद्धतियों की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत करना उचित समझते हैं जिन्होंने गुजरात के सन्तों की सैद्धान्तिक तथा साधनात्मक दोनों विचारधाराओं को प्रभावित किया है :—

१. अद्वैत वेदान्त।
२. विशिष्टाद्वैत मत।
३. सूफी—साधना।
४. सांख्य योग तथा गीता का प्रभाव।

### १. अद्वैत वेदान्त :

वेदान्त दर्शन भारतीय अध्यात्म-शास्त्र का चरम विकास है।[१] इसके अन्तर्गत अद्वैतवाद के सबल प्रतिष्ठापक आचार्य गौड़पाद तथा आचार्य शंकर हुए जिन्होंने निम्नलिखित मत प्रतिपादित किये —

---

१. 'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास' पृ.५३० ।

१. अजातवाद ।

२. मायावाद : अद्वैतवाद : ।

<u>आचार्य गौडपाद और उनका अजातवाद</u> :— आचार्य गौड़पाद सबसे पहले दार्शनिक थे जिन्होंने वेदान्त की व्यवस्थित व्याख्या प्रस्तुत की । शंकराचार्य ने जिस मायावाद की प्रस्थापना की, उसका मूल गौडपाद के अजातवाद में ढूंढा जा सकता है । आचार्य गौडपाद ने मांडूक्योपनिषद पर जो कारिकाएँ लिखीं उनके द्वारा अद्वैतवादी विचार-जगत में एक नया मोड़ आया, जिनमें उपनिषद के तत्वज्ञान का दर्शन के रूप में समन्वय किया गया है । माण्डूक्य उपनिषद पर लिखी हुई दो-सौ पन्द्रह कारिकाओं में वेदान्त-दर्शन की जो व्याख्या की गयी है, वही गौडपाद का अजातवाद कहा जाता है ।

आचार्य गौडपाद का समय आठवीं शती के आसपास माना जाता है तथा शंकराचार्य के गुरु गोविन्द के गुरु के रूप में इनका नाम लिया जाता है ।[1] ~~कुछ विद्वानों की धारणा है कि वे बौद्ध विद्वान थे~~ डॉ. त्रिगुणायत ने इन्हें शंकराचार्य का गुरु कहा है ।[2] कुछ विद्वानों की धारणा है कि वे बौद्ध विद्वान थे तथा वेदान्त का स्पष्टीकरण उन्होंने बौद्धदर्शन के आधार पर ही किया था[3] किन्तु वे वस्तुत: श्रुति प्रामाण्यवादी आचार्य थे जो संभवत: बौद्ध दर्शन से प्रभावित थे ।[4]

आचार्य गौडपाद की समस्त कारिकाएँ चार प्रकरणों में विभाजित हैं :—

---

१. Kev. Gujarati Poetry, Page 3.

२. हि.नि.का.दा., पृ.१३६

३. A History of Indian Philosophy Vol. I, Page 423.

४. हि.नि.का.दा., पृ.१३६ ।

१. आगम प्रकरण ।
२. वैतथ्य प्रकरण ।
३. अद्वैत प्रकरण ।
४. अलातशांति प्रकरण ।

आगम प्रकरण में उन्होंने वैश्वानर हिरण्यगर्भ एवं ईश्वर तथा जाग्रत, स्वप्न सुषुप्ति अवस्थाओं से विलक्षण तुरीय की कल्पना की है जिसे ओंकार का चतुर्थ पाद कह कर अभिहित किया है । उनके अनुसार तुरीय ब्रह्म अद्वैतरूप, प्रकाशरूप और सर्वव्यापी रूप है ।[1] इस अद्वैत तत्त्व के लिए उन्होंने आत्मा, ब्रह्म और आकाश आदि शब्दों का प्रयोग किया है । उनके अनुसार कोई भी वस्तु कभी उत्पन्न नहीं होती । आत्म तत्त्व के अतिरिक्त अन्य पारमार्थिक सत्य नहीं है । प्रत्यक्ष प्रपंच का कारण माया है । उन्होंने मायावाद की स्थापना तीन मूलभूत सिद्धान्तों पर की है —

१. आत्मा आत्मा के द्वारा ही आत्मा की कल्पना करती है ।[2]
२. अद्वैत तत्त्व में भेद पैदा करने वाली शक्ति माया है ।
३. मन ही द्वैतभाव का कारण है ।[3]

गौडपाद ने इस माया को अनादि कहा है ।[4] किन्तु अनादि का अर्थ ब्रह्म की बराबरी से नहीं है बल्कि उसकी प्रभावरूपता से है । वे माया को भावरूप मानते हैं और उससे उद्भूत प्रपंच को अचिन्त्य कहते हैं । उनके अनुसार जगत का उदय और विकास थोथी कल्पना है । वैतथ्य प्रकरण में उन्होंने इसी द्वैत द्वंद्व विशिष्ट जगत

---

१. 'अद्वैत सर्वभावों देव: तुरीयो विभु: स्मृत:' - मां.का.१।१०।१।१६ ।
२. 'कल्पयति आत्मान: आत्मानम् आत्मा' — मां.का.२।१ ।
३. 'मनोदृश्यं इदं द्वैतम्' — मां.का. ३।३१ ।
४. 'अनादिमायया सुप्तो यद जीव: प्रबुध्यते' — मां.का.१।१६ ।

के व्यावहारिक रूप की व्याख्या की है । माया के सिद्धान्त को उन्होंने अलात के दृष्टान्त से पुष्ट करने की चेष्टा की है । जिस प्रकार एक सिरे से जलती हुई यष्टि को घुमाया जाय तो अलातचक्र अथवा अग्निलोक का भ्रम होने लगता है । उसी प्रकार मन ही संसार की कल्पना का कारण है । मन के कारण संसार की सत्ता है और उसका निरोध होने पर संसार की सत्ता का लोप हो जाता है । कहीं कहीं पर मन को उन्होंने आत्मा का पर्यायवाची भी माना है । फलत: मन ही प्रपंच की आधार शिला के वस्तुत: अद्वैत के अतिरिक्त जो भी कुछ है सब असत् तथा स्वप्नवत् है । पारमार्थिक, व्यावहारिक अथवा प्रातिभासिक किसी भी अवस्था में ब्रह्म से भिन्न विश्व का कोई अस्तित्व नहीं है । जागृत सृष्टि भी स्वप्न सृष्टि की भाँति नश्वर एवं असत् है । स्वप्न में अथवा इन्द्रजाल में हम जिस प्रकार लोगों को जन्म लेते और मरते देखते हैं ठीक वैसी ही अवस्था इस प्रतीयमान जगत की है जिसकी मात्र कल्पित संवृत्ति ही होती है । कार्य कारण से युक्त मन ही संसार की भ्रान्ति पैदा करता है । फिर जब संसार का उदय ही नहीं होता तो विनाश का प्रश्न ही नहीं उठता ।

यह चिद्घन ब्रह्म अजन्मा है, अमर है । न वह मुक्ति की इच्छा करता है और न कभी बद्ध या मुक्त ही होता है । आत्मा ब्रह्मरूप है जो आकाश की तरह असंग है । उसकी न कोई उत्पत्ति है और न कोई जाति है । जगत केवल मन का व्यापार है । प्रपंच की उत्पत्ति, लय, प्रतीति अप्रतीति विषयक धारणाएँ भ्रान्तिपूर्ण हैं । मन का निरोध होते ही इन सब भ्रान्तियों का विलय हो जाता है ।

गौडपाद वस्तुत: अवच्छेदवादी आचार्य थे अत: उन्होंने ब्रह्म की अखण्ड सत्ता में विश्वास किया है । अवच्छेदवादियों के अनुसार जीव और ब्रह्म का अन्तर ठीक इसीप्रकार है जिस प्रकार

वायु घट के अन्दर भी है और बाहर भी है, किन्तु तत्त्वत: दोनों एक हैं घट का बाह्य आकार ही इस व्यावहारिक भेद का कारण है । जीव और ब्रह्म का अन्तर भी अविद्या के कारण ही प्रतिभासित होता है । कहीं कहीं पर गौडपाद ने प्रतिबिम्बवाद का भी समर्थन किया है । शंकर इन दोनों के अनुयायी थे ।[1]

गौडपाद का अजातवाद जहां बौद्धों के शून्यवाद से प्रभावित था, वहां वह ध्यान योग का भी समर्थक था । विशेषत: वह प्रणववाद, शब्दवाद और व्याकरण दर्शन से अनुप्राणित था ।[2]

प्रणव मन्त्र की व्याख्या : प्रणव मन्त्र योग साधना का विषय है । शब्द ब्रह्म की यह साधना ऋग्वेद[3] से चली आयी है । योगसूत्र में 'तस्य वाचक : प्रणव': लिखकर ब्रह्म की शब्दरूपता प्रकट की गयी है ।[4] कठोपनिषद में इस शब्द ब्रह्म की व्याख्या 'ओम' अर्थात् अक्षर ब्रह्म के रूप में की गयी है ।[5] माण्डूक्योपनिषद में इसी ओंकार की महिमा का बार बार वर्णन मिलता है ।[6] तन्त्रवादियों ने इसे नाद ब्रह्म के रूप में अभिहित किया है । उनका नाद ब्रह्म द्वैताद्वैत विलक्षण है । तांत्रिकों द्वारा प्रतिपादित यह द्वैताद्वैत विलक्षणवाद गोरखनाथी साधना पद्धति से होता हुआ सन्तों तक पहुंचा है ।

आचार्य गौडपाद ने जागरण, स्वप्न तथा सुषुप्ति के साथ साथ प्रणव मन्त्र : ओंकार : की व्याख्या भी प्रस्तुत की है । 'ओम' शब्द में तीन ध्वनियां हैं, जिनका सम्बन्ध क्रमश: आत्मा के तीन पदों से है विश्व, तैजस् एवं प्रज्ञा । जिस प्रकार विश्व तैजस् में मिल जाता है और तैजस् प्रज्ञा में तथा प्रज्ञा तुरीय आत्मा में

---

१. हि.नि.का.दा., पृ.१४२ ।
२. वही पृ.१४२ ।
३. ऋग्वेद १।१६४।१० ।
४. योगसूत्र १।२७ ।
५. कठोपनिषद १।२।१६ ।
६. माण्डूक्योपनिषद २ ।

लीन हो जाती है, ठीक उसी प्रकार ये तीनों ध्वनियाँ : अ.उ.म्.: ध्वनिहीन ओम : अमात्रा : में लय हो जाती हैं । अत: ओम तथा तुरीय आत्मा वस्तुत: अभिन्न हैं । मन की एकाग्रता जब 'ओम्' पर केन्द्रित हो जाती है उस समय किसी प्रकार का भय अथवा शोक नहीं रह पाता ।[1] 'ओम्' ब्रह्म का ही स्वरूप है जिसमें आदि, मध्य और अन्त तीनों की परिणति है । अत: ओंकार का ज्ञाता ब्रह्म को स्वत: जान लेता है ।[2] आचार्य गौडपाद ने इसी 'ओम्' को अनन्त मात्रा कहकर ब्रह्म की शाश्वत शक्ति का बोध कराया है ।[3]

<u>अजातवाद का प्रभाव :</u> गुजराती काव्य साहित्य में अजातवाद का निरूपण सर्व प्रथम अखा ने किया जिनके तत्त्वज्ञान की समस्त रचना इसी सिद्धान्त की मुख्य पीठिका पर हुई है । अखा द्वारा निरूपित अजातवाद का यह प्रवाह हमें गोपालदास, बूटियो, लालदास, कल्याणदास : अखा प्रणालिका के सन्त : आदि से लेकर सन्तराम तक में प्रवाहित होता हुआ दीख पड़ता है । अखाकृत 'संतप्रिया' 'ब्रह्मलीला' तथा 'एकलक्ष रमणी' में गौडपाद के इसी अजातवाद की विशद चर्चा की गयी है । सन्तरामकृत 'गुरु बावनी' में भी मन को ही समस्त भेदों तथा भ्रान्तियों का कारण बताया गया है । संक्षेपमें इन रचनाओं पर अजातवाद का जो प्रभाव पड़ा है, वह इस प्रकार है —

१. ब्रह्म के अतिरिक्त कोई दूसरा तत्त्व नहीं है ।[4]
२. विश्व के नाम रूपादि की प्रतीति मन की सृष्टि है, अर्थात् सृष्टि मन की बहिर्मुखता का ऐसा कल्पित परिणाम है जो मन के अमनीभूत होते ही लय को प्राप्त हो जाता है । सगुण एवं निर्गुण का भेद

---

१. युंजीत प्रणवे चेत: प्रणवो ब्रह्म निर्भयम् ।प्रणवे नित्ययुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित् । मां.का.१।२५ ।
२. मां.का., १।२७ ।
३. अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशम: शिव:। ओंकारो विदितो येन स मुनिर्नेतरो जन: मां.का.१।२९ ।
४. 'आगे पाछे और नांही, आप बिलस्या आपना' 'ब्रह्मलीला' चोखरा छन्द ८४ ।

भी इसी भ्रान्ति का परिणाम है ।[1]

३.कार्य और कारण का भेद भी भ्रमात्मक है । जिस बीज में अंकुर ही न फूटा हो, उसके पल्लव, डाल तथा वृक्ष की कल्पना करना अज्ञानता का द्योतक है ।[2] अर्थात् यह ब्रह्म ऐसा है, जिसके विषय में दृष्ट, दृष्टा और दर्शन की चर्चा व्यर्थ है ।[3]

४.माया अजन्मा है, अतः अजातवादियों द्वारा स्वीकृत माया के 'अजा' नाम को इन सन्तों ने उसी रूप में ग्रहण कर लिया है ।[4]

५.प्रणव के रूप में शब्द ब्रह्म की साधना भी अजातवाद से प्रभावित है ।[5]

---

१. 'गुनें निरगुन अखा नहिं डरै, भेव पायो भव भ्रांत तजी ।
जो मन मल्यो तो ब्रह्म सबै को, जो मन मान्यो तो जीव सबै ।।'
— संतप्रिया, ४३ – ४४ ।

२. 'ज्यां हां अंकुर उग्या नहीं, तो पत्र, पेड़ कहां डाल,
सत् मतामत बाहरा । तायें सब एक साल ।'
— एकलक्ष रमणी, १:२४ ।

३. 'दृष्ट, दृष्टा, दर्शन नहीं, त्यां हां चक्र चाल,
स्व संवेद्य भी कहने को, ऐसा सा एक साल ।' वही, १:२६ ।

४. 'आप ज्यों के त्यों निरंजन,
सर्वभाव फैली अजा ।
ज्यों चुंबक देख कै लोह चेतन,
त्यों दृष्टोपदेश पाई रजा ।।' —'ब्रह्मलीला', चोखरा १:३ ।

५. 'ओम् नमो आदि निरंजन राया,
जहां नहिं काल कर्म अरु माया,
जहां नहिं शब्द उच्चार न जेता,
आपे आप रहे डर अेता ।' —'अखा; ब्रह्मलीला, चोखरा १ ।

**श्री. शंकराचार्य तथा उनका अद्वैतवाद :** शंकर का अद्वैतवाद जिसे मायावाद भी कहा गया है, वस्तुत: गौड़पाद के अजातवाद से कुछ भिन्न प्रतीत होता है। शंकर के अनुसार ब्रह्म ही दृश्य जगत का अधिष्ठान है तथा यह दृश्य जगत माया का परिणाम है, किन्तु ब्रह्म केवल विवर्त है। वह जगत में परिणमित नहीं होता अपितु परिणमित हुआ-सा प्रतिभासित होता है। उन्होंने वेदान्त सूत्र पर अपने भाष्य में जगत स्वप्न है इसका खण्डन करते हुए जगत की सत्ता को स्वीकार किया है।[1] जगत की इस सत्ता को उन्होंने व्यवावहारिक ही माना है। सत् वही है जो त्रिकालाबाधित है, जो अल्पकालिक है वही असत् है। इस असत् का अर्थ अवास्तविक नहीं बल्कि अस्थायी, परिवर्तनशील और व्यावहारिक सत्ता है। असत् जो न है और न दृष्टिगत होता है जैसे बन्ध्यापुत्र, शशशृंग, गंधर्वनगरी, आकाशपुष्प आदि। किन्तु मिथ्या जो है तो नहीं लेकिन दिखायी देता है जैसे-जगत। ..........फलत: जगत व्यावहारिक सत्ता है, पारमार्थिक सत्ता है, [illegible] नहीं। यही कारण है कि शंकर ने जगत को मिथ्या कहा।

शंकर ने भी गौडपाद की भांति 'आत्मा आत्मानं जानाति' के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। उन्होंने आत्मा को अद्वैततत्त्व माना है। शांकर वेदान्त में इसी आत्मतत्त्व को ब्रह्म कहा गया है। उन्होंने उपनिषदों के निर्गुण ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता की प्रतिष्ठा की है। यद्यपि कहीं कहीं हमें उनमें सगुण ब्रह्म का वर्णन भी मिल जाता है। ब्रह्म का निरूपण उन्होंने दो विधियों से किया है —

१. स्वरूप लक्षण।[2]
२. तटस्थ लक्षण।[3]

---

१. 'ब्रह्मसूत्र भाष्य' २ । १।११ ।
२. 'सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म' - तैत्ति० उपनि० २।१।१ ।
३. 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते ।
सेन जातानी जीवन्ति ।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति,
तद्विजिज्ञासस्व । तद् ब्रह्मेति ।' - तैत्तिरीय ३।१

ब्रह्म की ज्ञानरूपता, अद्वैतता और सच्चिदानंदरूपता आदि विशेषताएँ ब्रह्म के स्वरूप लक्षण से सम्बन्धित हैं जबकि जगत की उत्पत्ति, स्थिति और लय ब्रह्म के तटस्थ लक्षण से सम्बन्धित । स्वरूप लक्षण का सम्बन्ध निर्गुण ब्रह्म से है जबकि तटस्थ लक्षण प्राय: ब्रह्म के सगुण रूप से जोड़ा जाता है । शंकर ने माया को निर्विशेष ब्रह्म से सविशेष जगत और जीव की उत्पत्ति का कारण माना है । परवर्ती विचार जगत में इसीलिए शंकर का मायावाद अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ । शंकर से पूर्व मायावाद की प्रतिष्ठा यद्यपि ऋग्वेद से लेकर बौद्ध युग तक दृष्टिगत होती है, किन्तु उसकी मान्यता किसी शास्त्रीय सिद्धान्त के रूप में न थी ।[1] मायावाद का जो बीज वस्तुत: गौडपाद के अजातवाद ने रोपा, उसका वट वृक्ष हमें शंकर के मायावाद में दीख पड़ता है । आचार्य शंकर ने माया को ब्रह्म का स्वरूप लक्षण कहा है । माया शब्द का प्रयोग प्राण और अव्यक्त के लिए भी किया गया है । इस अव्यक्त को उन्होंने बीज शक्ति कहा है जो माया विशिष्ट होकर महासुषुप्ति में है ।[2] प्राण और माया जब तक ब्रह्म में लीन रहते हैं तब तक उनमें अपनी कोई क्रियाशक्ति नहीं रहती, किन्तु विकासावस्था में ब्रह्म अधिष्ठान बन जाता है और माया क्रियाशील होकर नामरूप का विस्तार करती है । माया के इस विकसित रूप को आभास कारण अविद्या अथवा अज्ञान कहा गया है । माया अधोमुखी है जिसके तीनों स्वरूप जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति के समान ही हैं । शंकर ने अविद्या के दो रूप माने हैं —

१. व्यष्टि अविद्या ।
२. समष्टि अविद्या ।

समष्टि माया ब्रह्म के साथ साथ सर्व अवशिष्ट रहती है जबकि व्यष्टि अविद्या से प्रपंच का अभिधान करने वाली माया का बोध होता है।

---

१. Constructive Servey of Upanishadic Philosophy - -By Ranade - Page 227.
२. 'ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य' । १।४।३ ।

शंकर की माया मन की भ्रान्तिमात्र नहीं, अपितु वह त्रिगुणात्मिका है अत: भावरूपा है ।[1] गौडपाद और शंकर के माया सम्बन्धी विचारों में यही एक मौलिक अन्तर है कि गौड़पाद माया को विषयी प्रधान मानते थे जबकि शंकर ने उसे विषय प्रधान माना है । माया की कारणभूत सत्ता को स्वीकार करते हुए उन्होंने माया को न सत् ही कहा और न असत् ही बल्कि उसे अनिर्वचनीय तत्त्व कहा है । माया अनिर्वचनीय होते हुए भी ब्रह्म की तुलना में मिथ्या है ।

शंकर ने ब्रह्म को जगत का उपादान एवं निमित्त दोनों कारण बताया है । अधिष्ठान रूप से वह निमित्त कारण है किन्तु माया से अध्यस्त रूप उपादान कारण है । इसीलिए शंकर ने विवर्तवाद की कल्पना की, जिसमें उन्होंने बताया कि किसी वास्तविक वस्तु में किसी अन्य अवास्तविक वस्तु का भ्रान्तिपूर्ण आभास ही अध्यास है । अज्ञान के कारण ही शुद्ध चैतन्य अपनी विशुद्धता से च्युत होकर अल्पज्ञ जीव के रूप में परिणत होता है तथा संसार के बंध का अनुभव करता है । ज्ञान से ही इस बंध की निवृत्ति होती है । अध्यास से ही संसार है और ज्ञान द्वारा अध्यास निवृत्ति पर मोक्ष सम्पन्न होता है ।[2] अध्यास का दूसरा नाम अविद्या भी है । शंकर का यह विवर्तवाद अध्यासवाद, अध्यारोपवाद, अज्ञानवाद आदि नामों से अभिहित किया जाता है ।[3]

---

१. हि.नि.का.दा., पृ.१४६ ।
२. 'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास' भाग १, पृ. ५३२ ।
३. हि.नि.का.दा., पृ.१४७ ।

मायावाद का प्रभाव : गुजराती सन्तों में अखा की विचारधारा वस्तुत: गौडपाद के अजातवाद तथा शंकर के मायावाद दोनों से प्रभावित है । केवलाद्वैत की विचारधारा में अखा की गति आकाश के विहंगम की तरह है । उसकी पकड़ अद्भुत है । शंकर के मायावाद के चारों रूपों आभासवाद, प्रतिबिम्बवाद, अवच्छेदवाद तथा दृष्टिसृष्टिवाद का प्रभाव अखा की माया सम्बन्धी विचार सरणि पर स्पष्टत: देखा जा सकता है । मायावाद का यह प्रवाह गुजरात के ज्ञानवादी सन्तों में दादू से लेकर अखा, धीरो, निरांत, प्रीतम, भाणसाहब, रविसाहब, मोजो तथा अनेक परवर्ती सन्तों में दृष्टिगत होता है । गुजरात की यह ज्ञानधारा शंकर के मायावाद से इतनी अधिक प्रभावित है कि इस विषय को स्पष्ट एवं रोचक बनाने के लिए गुरु शिष्य संवादों के रूप में 'हस्तामलक' जैसे स्वतन्त्र चिन्तनपूर्ण ग्रन्थों की रचना भी की गयी है । संक्षेपमें शंकर के मायावाद का जो प्रभाव गुजरात के सन्तों पर पड़ा है, वह इस प्रकार है —

१. निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन ।
२. आत्मा-परमात्मा की एकता तथा अखण्डता ।
३. ब्रह्म ही सृष्टि-विकास का मूल स्त्रोत है ।
४. माया मिथ्या तथा त्रिगुणात्मिका है ।
५. ज्ञान अमृत-सागर के समान है, इसके बिना मुक्ति नहीं हो सकती ।

उपर्युक्त इन सभी प्रभावों की प्रतीति हम गुजराती सन्तों की ब्रह्म, जीव, जगत एवं माया विषयक चर्चा के अन्तर्गत करेंगे ।

## २. रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद का प्रभाव :

श्री रामानुजाचार्य वस्तुत: सुधारवादी आचार्य थे, जिन्होंने भक्ति के क्षेत्र में सदाचारणप्रियता, प्रपत्ति और वैधी उपासना

पर भार देते हुए भक्ति की प्राण प्रतिष्ठा की जबकि दर्शन के क्षेत्र में वे श्रुति प्रमाणवादी होते हुए भी परिणामवाद के पोषक रहे। उन्होंने शंकर के मायावाद का खंडन कर विशिष्टाद्वैत का प्रतिपादन किया। ब्रह्म को उन्होंने चिद्, अचिद् और विशिष्ट मानकर चिद् को भोक्ता जीव और अचिद् को भोग्य जगत का पर्याय बताया। सगुण ब्रह्म को उन्होंने उपनिषद-समर्थित कहा तथा उसे सजातीय एवं विजातीय भेदों से शून्य माना। ईश्वर, चिद् और अचिद् का सम्बन्ध उन्होंने विशेष्य-विशेषण के रूप में जोड़ा है। अर्थात् ईश्वर, चिद् और अचिद् का सम्बन्ध उन्होंने विशेष्य विशेषण के रूप से स्वयं विशेष है तथा चिद् और अचिद् विशेषण। ईश्वर ही इस जगत का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। वह लीला के लिए ही इसका सृजन करता है और लीला में ही उसका संहार कर डालता है। प्रलय-काल में जीव और जगत सूक्ष्मरूप में परिणत हो जाते हैं। इसी अवस्था में सूक्ष्म चिद् अचिद् ब्रह्म कारण ब्रह्म कहलाता है। यही कार्य-कारण परिणामवाद का मूल है।

विशिष्टाद्वैत में जगत सत्य रूप है। जीव अविद्या से विमोहित होकर बंध जाता है। उससे मुक्ति प्राप्त करना ही जीव का परम लक्ष्य है। यह मुक्ति भक्ति के माध्यम से ही प्राप्त की जा सकती है।[1] डॉ. बड़थ्वाल ने संतों के आत्मा-परमात्मा एवं जड़-पदार्थ सम्बन्धी विचारों का निरूपण करते समय तीन प्रकार की दार्शनिक विचारधाराओं के अनुसार वर्गीकरण किया है और इस प्रकार कबीर, दादू, मीरा, मलूक आदि को अद्वैती, नानक को भेदाभेदी तथा शिवदयाल और प्राणनाथ आदि को विशिष्टाद्वैती ठहराया है।[2] अतः प्राणनाथ के दार्शनिक विचारों में जीवात्मा तथा परमात्मा का सम्बन्ध अंशांशि का है। वे मानते हैं कि जीवात्मा

---

१. 'रामानुजाचार्य विशिष्टाद्वैतिक भक्ति-दर्शन' डॉ. सरनामसिंह शर्मा, पृ.६।
२. हि.का.नि.स., पृ.१९९ - २००।

का अंततः निवास परमात्मा है है, फिरभी वे जीवात्मा को पूर्ण ब्रह्म नहीं मानते । प्राणनाथ के अनुसार परमात्मा अंशी है और जीवात्मा अंश ।[१] इन्होंने नश्वर जगत में रहते हुए आत्म दृष्टि द्वारा अखण्ड परमधाम में निवास करने वाले नित्य, चिन्मय परमात्मा के परम मिलन के दिव्यानन्द की अनुभूति प्राप्त करते हुए संसार में जन्म लेने वाले अनन्त जीवों की तीन कोटियाँ स्वीकार की है —

१. उत्तम कोटि के जीव ब्रह्म परायण होने के कारण ब्रह्म सृष्टि कहे जाते हैं तथा सात्त्विक रहकर ब्रह्म-साधना करते हुए दिव्य-धाम को प्राप्त करते हैं ।

२. मध्यम कोटि के जीव राजसी वृत्ति से जीवन यापन करने वाले नाना मार्गों का, विविध पन्थों का अनुसरण कर 'मुक्ति' की कामना करने वाले ईश्वरी सृष्टि कहे जाते हैं ।

३. तीसरे प्रकार के जीव अधमकोटि के होते हैं जो 'जीव सृष्टि' कहे जाते हैं । ये तामसीवृत्ति से अभिभूत होकर भूत प्रेतों की उपासना द्वारा क्षणिक सुख में जीवन को भ्रमित कर आवगमन के चक्कर में बंधे रहते हैं ।

ब्रह्मज्ञान का अधिकारी ~~ब्रह्म ब्रह्मांश~~ ब्रह्मांशधारी जीव ही हो सकता है । दूसरी कोटि के जीवों को ब्रह्मज्ञान के बिना मोक्ष प्राप्त नहीं होता अतः जीवात्मा को सर्व ~~प्र~~ प्रथम ब्रह्मज्ञान के लिए आत्मज्ञान होना ~~प्र~~ परमावश्यक है । इनके द्वारा प्रतिपादित 'अक्षरब्रह्म' के सत्य-स्वरूप को समझने के लिए हम इस प्रकार

---

१. 'अब कहूँ इसक बात, इसक सबदातीथ साख्यात,
ब्रह्म सृष्टि ब्रह्म एक अंग, ये सदा अनंद अतिरंग ।'
—ब्रह्मबानी पृ.१ ।

का एक रेखा चित्र खींच सकते हैं —

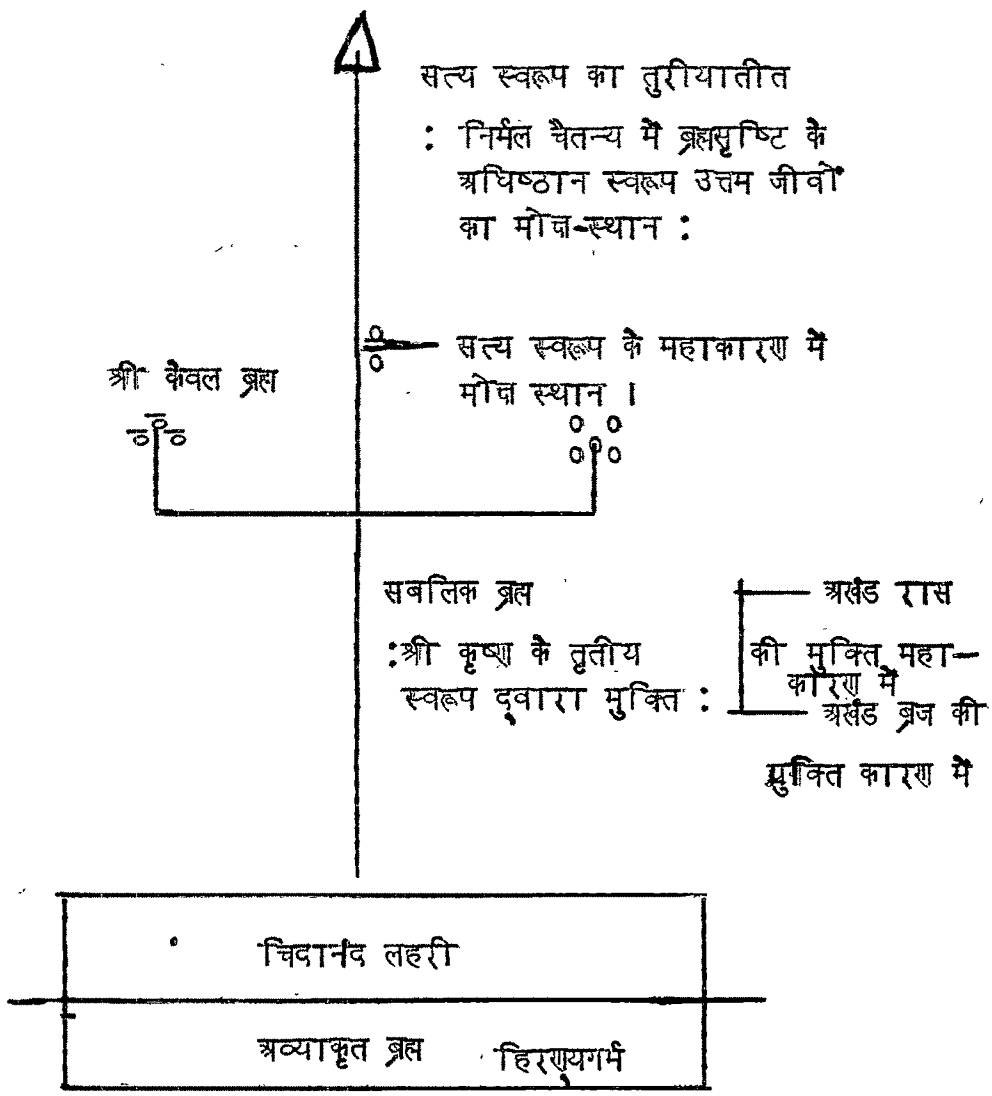


इनके द्वारा प्रतिपाददित क्षर पुरुष की प्रणालिका इस प्रकार खींची जा सकती है —

आदि नारायण
।
उन्मुनी शक्ति
।
महाविद्याशक्ति
।
निरंजन निराकार
।
गायत्री ज्योति-स्वरूप
।

|

सतलोक : ब्रह्मपुरी :

|

तपलोक : तपस्वीपुरी :

|

जनलोक : ब्रह्मा के मानसी पुत्रों का स्थान :

|

महरलोक : धर्मराज की पुरी :

|

स्वर्गलोक : इन्द्रपुरी :

|

भुवर्लोक : पितृगण निवासपुरी :

|

जम्बूद्वीप : मृत्यु लोक :

जम्बूद्वीप से भी नीचे सात लोकों : अतललोक, वितललोक, सुतललोक, तलातललोक, रसातललोक, महातल लोक, पाताल लोक : की कल्पना की गयी है । इस प्रकार आदिनारायण का धाम परमधाम है तथा आदिनारायण ही महाविष्णु एवं अनिर्वचनीय है । स्वामी प्राणनाथ द्वारा रचित 'तारतम्य' में इसी धाम, परमधाम, ब्रजमंडल तथा रासमंडल की चर्चा की गयी है ।

३. सूफी-साधना और उसका प्रभाव :

सूफी-साधना वस्तुत: भावजगत की साधना है । मनुष्य अनादियुग से साधना करता आया है और ज्ञान के प्रकाश में आत्मा तथा परमात्मा के सम्बन्ध को अनेक भावों और प्रतीकों से जोड़ता रहा है । सृष्टि के विकास के साथ-साथ वह यह अनुभव करता आया है कि मन की अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है और उससे भी श्रेष्ठ है उसकी निष्काम भावना, उसके विवेक से भी श्रेष्ठ है वैराग्य । विवेक के द्वारा मनुष्य जहाँ अच्छे बुरे की पहचान करता है, वैराग्य के द्वारा वह बुरे को छोड़ने में समर्थ होता है । निर्विकार केवलरूप को पहचानने वाला 'कैवल्य' पद को प्राप्त होता है और उसे प्राप्त

करने की इस साधना का नाम ज्ञान मार्ग है, किन्तु ज्ञान-मार्ग खाडे की धार है जिस पर सभी नहीं चल पाते । साधना-पद्धति पर चलने वाले बड़े बड़े साधकों की साधना अहंकार एवं दम्भ के एक हलके से स्पर्श से खण्डित हो चुकी है । अत: इस दम्भ से साधना की रक्षा करने का एकमात्र उपाय है—प्रेम । सूफी-साधना में प्रेम की भित्ति पर साधना का ऐसा भवन खड़ा हुआ, जिसकी खोज मनुष्य युग युग से करता आ रहा था । दंभ के परिवेश में इस्लाम धर्म के अनाचारों को मिटाने के लिए ही ईरान में सर्वप्रथम सूफीमत का आविर्भाव हुआ था । भावलोक के इन साधकों ने ज्ञान की अपेक्षा प्रेम की बंसी बजायी और परमात्मा को प्रेम-स्वरूप मानकर अपनी साधना की धूनी रमायी जिसमें इश्क-मिज़ाजी से इश्क-हकीकी तक पहुँचने का-सहज-मार्ग था । सूफी साधक : सालिक : परमसत्ता में अपने अस्तित्व को लीन करने के हेतु साधना के जिस पथ : मार्ग : पर अग्रसर होता है उसके चार सोपान : मुकामात : हैं [१]—

१. शरीअत-अर्थात् धर्म ग्रन्थों के विधि निषेध का सम्यक पालन या कर्मकाण्ड ।
२. तरीकत-अर्थात् बाह्य क्रिया कलापों से परे होकर केवल हृदय की शुद्धता द्वारा परम सत्ता का ध्यान ।
३. हकीकत-अर्थात् भक्ति या उपासना के प्रभाव से साधक को परम सत्य का सम्यक ज्ञान एवं उसके फलस्वरूप साधक का तत्त्वदृष्टि सम्पन्न होना ।
४. मारिफत-अर्थात् सिद्धावस्था जिसमें कठिन उपवास या मौन—साधना द्वारा साधक की आत्मा परमात्मा में विलीन होने की क्षमता प्राप्त करती है ।

---

१. जायसी के परवर्ती हिन्दी-सूफी कवि और काव्य, डॉ. सरला शुक्ल, पृ. ७५ ।

सूफियों का कथन है कि परमात्मा प्रेम स्वरूप है और अपने ही आनन्द के लिए उसे मनुष्य के हृदय में उत्पन्न करता है । अत: सूफी साधना के प्रारम्भ में भी प्रेम रहता है और उसकी परिणति भी प्रेम में होती है । बायज़ीद कहता है कि `मैं समझता था कि मैं परमात्मा से प्रेम करता हूं लेकिन ग़ौर करने पर मैंने देखा कि मेरे प्रेम करने के पहले से ही वह मुझसे प्रेम करता है ।` सूफी साधकों का मानना है कि परमात्मा को वही जान सकता है जो अपने आप को जान लेता है । परमात्मा का साम्राज्य हृदय के भीतर है अत: उसे जाने बिना परमात्मा को नहीं जाना जा सकता । सूफियों का चरम लक्ष्य परमात्मा के साथ एकमेक होना है । इसके लिए भावाविशिष्टावस्था : वज्द : ही एक ऐसा ज़रिया है जिससे आत्मा परमात्मा का साक्षात्कार कर सकती है । इस भावाविशिष्टता के लिए उन्होंने फ़ना, वज्द, समाँ, ज़ौक़, ग़ैबत, हाल आदि शब्दों का प्रयोग किया है । साधना के इस स्तर पर पहुँचते ही स्त्री-पुरुष का भेद मिट जाता है । भावावेश की इस अवस्था के बाद जो शान्ति प्राप्त होती है उसे इन्होंने `बुजूद` कहा है जो आध्यात्म के क्षेत्र में `निर्वेद` अथवा `वैराग्य` है । सूफी साधक इसे परमात्मा की देन मानते हैं । अन्तिम अवस्था `परमात्मा की सत्ता में स्थिति` है । इसकी स्पष्ट व्याख्या श्री. तिवारीजी ने इस प्रकार की है — `साधक परमात्मा के चिन्तन, मनन और उसके साक्षात्कार के लिए उत्कट प्रेम का अनुभव करता है जबकि उसकी आँखों से आँसू की धारा बहती रहती है, बार बार उसके नाम की रट लगाये हुए रहता है और जब उसमें उन्माद के लक्षण प्रतीत होने लगते हैं तब वह सांसारिक व्यापारों और विषयों से परे हो जाता है और उसके हृदय में आनन्द और उल्लास का उदय होता है । इस अवस्था को `वज्द` कहते हैं । इसके बाद अगर उसकी साधना पूर्ण है तो वह `वुजूद`: स्थिति : की अवस्था को

प्राप्त होता है अन्यथा फिर उसकी चेतना लौट आती है और संसार का प्राणी बन जाता है। बज़्द के वुजूद के बाद वह परमात्मा की सत्ता में स्थित हो जाता है और अब उसका कोई अपना अलग अस्तितत्व नहीं रह जाता।[1]

सूफी साधना अनेक रूपों में भारतीय साधना से सम्बद्ध है। इस्लाम के साथ भी उसका घनिष्ट सम्बन्ध है। अत: यह एक ऐसी साधना है जिसमें इस्लाम के आधार पर वेदान्त की व्याख्या की गयी है। अन्तर इतना है कि अद्वैतवाद में जहाँ आत्मा और परमात्मा के एकीकरण होने में चिन्तन और माया का अभिन्न एवं महत्त्वपूर्ण भाग है वहाँ सूफीमत में उसीके लिए हृदय की चार अवस्थाओं और प्रेम का।[2]

<u>प्रभाव :</u> गुजराती सन्तों में अखा, प्रीतम, रविसाहब तथा निरांत पर सूफी-साधना का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा है। अखा ने अपने 'झूलणा' पदों में वेदान्त तथा सूफी साधना की एकता सूचित की है। उसमें अस्सी प्रतिशत शब्द सूफियों की देन हैं। सूफी मार्ग की चारों अवस्थाओं का निरूपण अखा ने इन झूलणा पदों में अपने ढंग पर किया है।[3] अखा की 'जकड़ियों' में भी यही प्रभाव परिलक्षित होता है। गुजरात के मर्मी सन्तों की विरहानुभूति में हमें जिस 'प्रेम की पीर' के दर्शन होते हैं वह सूफी कवियों की शैली पर ही आधारित है। उदाहरणार्थ —

---

१. 'सूफीमत—साधना और साहित्य' पृ.२६५।
२. 'कबीर का रहस्यवाद' डा.रामकुमार वर्मा। पृ.३४।
३. 'शरीअत की हैड है हीरों की, आव हवा हीरस का पाउ पड़ा।
ना मन छूटे ना माल फावे, ज्युं कीच मीने गाड़ा ज अड्या।।'
—अखाकृत झूलणा—१२।
और,
'हकीकत का हाँसिल जो होवे, तो कछु जीवडा पार पावे।' वही १२।

'लोचन से लोहु चुवें,
बिन देखे मेहबूब ।
रविदास राती अँखियाँ,
खालक बिन नहिं सूब ।'

—रविसाहब ।

०० ००

'इसक अलह की जाति है, इसक अलह का अंग ।
इसक अलह औजूद है, इसक अलह का रंग ।।'

—दादू ।

०० ०० ००

'प्रेम खेल है ऐसा रे,
सो सीर जात अदेसा रे ।'

—अखा ।

भारतीय ज्ञानवाद तथा सूफी प्रेमवाद का अपूर्व समन्वय गुजराती सन्त-वाणी की निजी विशेषता है । इस तथ्य का समर्थन हम पहले भी कर चुके हैं । प्रेम-पंथ को बूझने के हेतु ज्ञानी सन्तों ने सूफी फकीरों से दीक्षा तक ग्रहण की है । निरांत को सच्चा रास्ता दिखाने वाला मियांसाहब नामका कोई सूफी फकीर ही था । सागर की रचनाओं में तो आध्यात्म तथा सूफी-साधना का का अपूर्व सामंजस्य देखते ही बनता है । इसी प्रकार सूफी सन्त अनवर की रचनाएँ भारतीय-दर्शन की व्याख्या प्रस्तुत करती हैं ।

४. सांख्य, योग तथा गीता का प्रभाव : —

सांख्य मत द्वैत का प्रतिपादक है । वह प्रकृति और पुरुष की भिन्नता मानकर दोनों के सम्बन्ध से जगत का आविर्भाव स्वीकार करता है । इसके अनुसार प्रकृति स्थूल और सूक्ष्म जगत की उत्पादिका है । सृष्टि-काल में पदार्थ इसी मूल कारण से उत्पन्न

होते हैं और इसी मे विलीन हो जाते हैं । प्रकृति नाना पुरुषों के आश्रित है, अतएव प्रकृति के ही बन्ध और मोक्ष होते हैं, पुरुष केवल साक्षीमात्र अथवा द्रष्टा है ।[१]

वेदान्तियों ने अविद्या तथा माया के सिद्धान्त को मानते हुए भी सांख्य के जगत-उद्‌भव के क्रम को यत्किंचित परिवर्तनों के साथ स्वीकृत किया है । अनादिमाया शून्यरूप कैवल्य की स्वामिनी है । अर्थात् सत् में निहित गत्यात्मक स्फुरण शक्ति ही चेतना है । इसी के फलस्वरूप ब्रह्म नये नये आकार लेता हुआ दृष्टिगत होता है । माया त्रिगुणात्मिका है जो पंचमहाभूत, पाँच तन्मात्राओं : महाभूतों के सूक्ष्म तत्त्व : को जन्म देती है । ये दस तत्त्व तमस् में से पैदा होते हैं । सत्त्व में से मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार इन चार तत्त्वों का जन्म होता है । रजस् में से पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ उद्‌भूत होती हैं । ये चौबीस परिणाम वस्तुत: त्रिगुणात्मिकाप्रकृति : माया : के ही परिणाम हैं । प्रकृति पच्चीसवाँ तत्त्व है । यह जिस प्रकार सर्वव्याप्त है, ठीक उसी प्रकार परमतत्त्व ब्रह्म भी परिव्याप्त है, किन्तु ब्रह्म सर्वथा निर्विकार है । रजो गुण से ब्रह्मा, तमो गुण से रुद्र और सत्वगुण से विष्णु की प्रतीति होती है । सगुण ब्रह्म की प्रतीति का कारण भी यही है । अखा ने इसीलिए माया को स्थूल ब्रह्म की माता कहा है ।[२] तत्त्वों का तत्त्व परमात्मा छब्बीसवाँ तत्त्व है । समस्त विश्व में ब्रह्म ही एक मात्र सत् वस्तु है । उसका स्फुरण-रूप माया है जो उसके सर्व-परिणामों में ओत-प्रोत है ।[३] इसरूप में सांख्य का प्रभाव अखा, छोटम आदि गुजरात के सन्त-कवियों पर ठीक उसीप्रकार पड़ा है जिसप्रकार कबीर आदि ने वेदान्त के चश्मे से सांख्य का अध्ययन किया है । इन्होंने सांख्य-सिद्धान्त का उपयोग किया अवश्य है, परन्तु उस पर अद्‌वैत की गहरी छाया है ।[४]

---

१. सांख्य कारिका—१६ । २. 'ब्रह्मलीला' चौ.छं. २: १—५ ।
३. 'अखेगीता'— कड़वा ७ :२ ।
४. 'सांख्ययोग सिद्धान्त पायो, कह्यो गुरु त्यों अभस्यो,
तत्त्वमसि जो वाक्य श्रुतिको, गुरुकृपा तें सो भयो ।' 'ब्रह्मलीला चौ.७:२ ।

सांख्य तथा योग का घनिष्ट सम्बन्ध है । योग ने वस्तुत: सांख्य के पच्चीसों तत्त्वों को ग्रहण कर लिया है । सांख्य के पंचभूतों से लेकर महत् तत्त्व पर्यन्त सभी तत्त्व मनोवैज्ञानिक हैं । `चेतन` और `प्रकृति` भी अत्यन्त सूक्ष्म हैं । इन सबका आभास योग की सहायता के बिना नहीं हो सकता । गीता में कहा भी गया है — `सांख्य योगो पृथक् बाला: प्रवदन्ति न पण्डिता:` ।

योग का अर्थ है चित्तवृत्ति का निरोध ।[1] इसका दूसरा अर्थ समाधि के रूप में भी लिया जाता है । चित्त का `निरोध` अभ्यास और वैराग्य से होता है । चित्त को क्लेशों से मुक्त करने के लिए योगशास्त्र में योग के आठ अंगों : साधनों : का अभ्यास करना आवश्यक है ।:[2]—

१. यम । २. नियम । ३. आसन । ४.प्राणायाम ।
५. प्रत्याहार । ६.धारणा । ७.ध्यान । ८.समाधि ।

सांख्य के समान योग में मुक्ति को `कैवल्य` कहा गया है ।[3] कर्मवाद की उच्च भावना के दर्शन भी हमें योग में होते हैं जिसमें बताया गया है कि परमलक्ष्य तक पहुँचने के लिए `कर्म` एक प्रधान साधन है ।

योग-दर्शन में `ईश्वर` का महत्त्वपूर्ण स्थान है । उसमें ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति क्रियाशक्ति आदि गुण हैं । इसीलिए उसे `ईश्वर` कहते हैं । वह सर्वज्ञ और सर्वापेक्षया उत्तम है । योग-शास्त्र का `ईश्वर` ऐश्वर्य सम्पन्न, सदैव-मुक्त तथा सर्वज्ञ है । पतंजलि ने इसे `पुरुष विशेष` : पुरुष विशेष: ईश्वर: : कहा है । अर्थात् जो पुरुष क्लेश, कर्म, विपाक तथा संस्कार इन चारों से मुक्त होता है, वही योगशास्त्र में `ईश्वर` कहलाता है ।[4]

---

१. `योगसूत्र` १।२ ।
२. `भारतीय दर्शन-सार` डॉ.बलदेव उपाध्याय । पृ.२६२ ।
३. वही पृ.३०० ।
४. वही पृ.३०१ ।

गुजरात के सन्त कवियों में यद्यपि योग की कठोर-साधना के प्रति विशेष रुचि नहीं दिखायी देती फिरभी, अष्टांगयोग, प्रणव मन्त्र[1] 'षट-चक्र' 'कुंडलिनी' ब्रह्मरंध्र, सहस्त्रार कमल, 'नाभि-कमल' आदि का वर्णन मिलता है। गणपतराम की 'षट-चक्र'-लावणी' इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है। इसमें कुंडलिनी के ब्रह्मरंध्र तक पहुँचने की स्थिति का वर्णन किया गया है।[2] गणपतराम ने यहाँ आत्मा को जल की मछली कहा है जो भव में गोते खा-खा कर भटक गयी है। अखा ने ज्ञान एवं भक्ति के साथ योग को साधना का विशिष्ट मार्ग एवं लक्ष्य बताया है जिसमें साधक 'आपा' हारकर परमतत्त्व से लौ लगाता है।[3] वस्तो द्वारा रचित योग-साधना के पद विपुल प्रमाण में उपलब्ध होते हैं। वस्तो ने कहा है कि हठयोग साधन को शुद्ध करनेवाली प्रक्रिया है। ऐसी 'गगन-गुफा में गुरु दीठा' है जहाँ —

'हंस दस्याये रहे च्युगे मुगता मोती,
षटचक्रकु बेध के नरखे पुरण जोती।'

पद – २०, ४१—४२।

शूर तो ढाल लेकर रणभूमि में अपनी रक्षा करता है परन्तु वस्तो-सा लड़ाका कहीं देखा नहीं, जिसके पास —

'ढाल नहीं, मोरचा नहीं, नहीं सीस की आस।
आप अरपी ते तो लड़े, ऐसे वरला दास।।'

पद ८ : ३७—३८।

---

१. 'छोटम की वाणी ग्रन्थ १, पृ. २२६।
२. 'भजन सागर' पृ. २३३—२३५। पद १६० से १६६।
३. 'ज्ञान भक्ति अरु जोग के, मारग तीन अरु तीन लक्ष,
तीन लक्ष उरधार, संसार तैं रहत बैरागी।
अंतर 'आपा' हार तत्त्वसुं रहत है लागी।
योगी 'आपा' हारत जो लहे लागत तारी,
भक्तकुं 'ध्येय ध्याता' य जबहि मिलत बनवारी।
ज्ञानी कुं सब विचार अखा! ना रहतपक्षापक्ष,
ज्ञान भक्ति अरु जोग के मारग तीन अरु तीन लक्ष।' 'अक्षयरस' ६:२५।

उस अमरपद की उपलब्धि के हेतु बाह्य क्रिया कलापों की आवश्यकता नहीं रहती, शास्त्र ज्ञान भी इस दृष्टि से निरर्थक है —

> 'ना हम नाचें, ना हम गावें, ना हम तान मिलावें ।
> ना हम पोथी पढ़ें पंडित की, सहज अमरपद पावें ।।'

'सन्तों की यह साधना सुरत शब्द योग अथवा सहज की ओर विशेष अभिमुख है । जहाँ न जप-जाप है और न ध्यान धारणा है बल्कि सहज ही 'शब्द ब्रह्म' का प्रकाश होने लगता है ।[१] जिसने सहजानंद को भोगा है और जिसकी चाल अकल है वह कभी तन, मन और धन की परवाह नहीं करता । ऐसा पुरुष ही 'साहब का लाल' हो सकता है ।[२] अखा ने इस बात पर विशेष भार दिया है कि ब्रह्मानंद की अनुभूति में जो फाग दृष्टादृष्ट के बीच खेला जाता है, वही 'मध्यममार्ग' अथवा 'मध्यमभाव' है ।[३] डॉ. बडथ्वाल ने इस मध्यममार्ग की चर्चा करते हुए कहा है कि निर्गुण सम्प्रदाय वालों ने इसे बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों से ग्रहण किया था, जो स्वभावत: वज्र के साथ युद्ध करने के समान है ।[४] अर्थात् सन्तों का यह मध्यममार्ग ऊपर से भले ही सरल लगता हो परन्तु जैसा कि कबीर ने कहा है कि यह 'सती' और 'सूरा' की चाल से भी आगे है, अखा ने ठीक उसी प्रकार कहा है कि यह प्रीतम से 'सहज संयोग' तो करवा देता है किन्तु सहल नहीं ।[५] सहल की इच्छा रखनेवाला ...

---

१. रविसाहब, र.भा.स.वा., पृ.२६० ।
२. अखा साखी 'लालच को अंग'-१ ।
३. 'सोहं हंसा खेलन लागो, आप आभास सुरंग ।
   सहेज शक्ति सागर की लहरी नव नव तान तरंग ।।
   दृष्टा दृष्ट मध्ये ही मनोहर, खेलत हरि फाग ।
   हो हो होरि कहो चिद्‌शक्ति, उडत शब्द पराग ।।'
४. हि.का.नि.स, पृ.१८६ ।
५. अखा साखी, क्रीपा अंग-२५ ब ।

अखा की दृष्टि में `देहदर्शी है और `सहज` की इच्छा रखनेवाला `आत्म दर्शी` ।[1] अहं के छूटे बिना सहज का योग नहीं हो सकता अहं छूटने से अहं रहता है और तभी सहज का योग हो पाता है ।[2] सहज की साधना में `चित्त का निरोध` हो जाता है तब चारों युग की साधनाएँ साधक के लिए फीकी दिखायी देती हैं, वह स्वयं ही अन्तरघट में सद्गुरु साक्षात्कार कर लेता है ।[3] अंतर कक्ष में आनेवाला यह साजन `सहजे सहजे` आया है जिसका स्वरूप वेदों और किताबों में कभी लिखा नहीं गया ।[4] इस प्रकार साधना के क्षेत्र में इन सन्तों की प्रवृत्ति जटिलता से सहज की ओर रही है । इन्होंने हठयोग, मन्त्रयोग, लययोग आदि सभी का सहजीकरण कर दिया है । इन सन्तों ने योगासनों का वर्णन भी किया है । प्रीतम ने पद्म, सिद्ध तथा सत् इन तीन आसनों को प्रमुखता दी है जो ज्ञान के प्रकाश में सकल उपाधियों का विनाश करते हैं ।[5]

निष्काम कर्मयोग का जो वेणुनाद हमें गीता[6] में सुनायी देता है, गुजरात के सन्तों पर उसकी स्पष्ट छाया देखी जा सकती है । `गीता` से तो वे इतने प्रभावित हुए कि अपनी रचनाओं के नाम करण में इसका लोभ संवरण न कर सके । अखा की `अखेगीता`, भवानी शंकर : [illegible] : की `ध्यानगीता`, रविसाहब की `भाण-गीता` नरहरि की `ज्ञानगीता` गोपाल की `गोपाल-गीता` नाथ भवान की `शिवगीता` वस्तो की `वस्तुगीता` और प्रीतमदास की `सरसगीता` आदि इसके स्पष्ट उदाहरण हैं ।

---

१. `अखा-साखी`: देहदर्शी को अंग—१६ ।
२. श्री.अ.सा. ३०:२१ ।
३. `सतजुग में हम जोग लीया, ने त्रेता तपसा मेरी,
   द्वापर कीना ध्यान समाधी कलजुग माला फेरी ।।
   चार जुग की कुन पड़ी है मैं मेरा कर लीना,
   सतगुरु मोए आनमीले, तब अंतरघट मां भीना ।।`
   —संतरामकृत `गुरु बावनी` पद संग्रह, पृ.४—५ ।
४. `अखाजी की जकड़ी` २० ।
५. `प्री.दा.सा., : जोग को अंग : २३ से २५ ।
६. `गीता` २।४७ ।

श्रीमद् भगवत् गीता वस्तुत: भारतीय दर्शन का प्राणभूत ग्रन्थ है जिसमें ज्ञान एवं कर्म का विनियोग किया गया है । साधारणत: कर्म तीन प्रकार के बताये गये हैं— संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण । मनुष्य ने जो कुछ कर्म किया है, उसे संचित कर्म कहते हैं । जिस पुराने कर्म के फल को वह भोग रहा है, उसे प्रारब्ध कर्म कहते हैं । जो कुछ वह नये सिरे से करने जा रहा है, उसे क्रियमाण कर्म कहते हैं । ज्ञान होने पर संचित कर्म भस्म की तरह जल जाते हैं ।[१] ज्ञानी पुरुष प्रारब्ध कर्मों के संस्कारवश उसी प्रकार शरीर धारण किये रहता है, जैसे कुम्हार का चलाया हुआ चक्र-दण्ड उठा लेने पर भी वेगवश कुछ देर तक चलता रहता है । कर्म बन्ध के इस दर्शन के साथ स्वर्ग-नरक एवं मोक्ष की कल्पना भी की गयी है ।[२] गीता में मोक्ष को पुरुषार्थ कहा गया है । यह उपनिषदों के 'आत्मदर्शन' से भिन्न प्रतीत नहीं होता । देह-दमन की अपेक्षा चित्त-निरोध द्वारा आत्मस्थित होने की प्रक्रिया को गीता में प्रतिपादित किया है । मोक्ष भी छ: प्रकार का बताया गया है— स्वरूप, सालोक्य, सानिध्य, सृष्टि, सायुज्य और कैवल्य । सन्तों ने कैवल्य की कामना की है और भक्ति एवं ज्ञान को उसका साधन माना है ।[३] गीता में भगवान कृष्ण ने ज्ञान, भक्ति एवं योग की समन्वित साधना पर ही विशेष बल दिया है । गुजरात के सन्तों ने ज्ञान, भक्ति एवं योग की इसी त्रिवेणी में अवगाहन किया है ।[४] इन पर गीता के समत्वयोग, इन्द्रिय निग्रह एवं प्रपत्ति का भी पूर्ण प्रभाव पड़ा है ।

---

१. ज्ञानाग्नि: सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा । गीता ४।३७ ।

२. गीता — ६।२०।२१ ।

३. रविसाहब — र.भा.स.वा., पृ.१४७ ।

४. 'ज्ञान दीप वैराग शशी जोग अरक सम भास,
उदय अस्त साधन सकल, भक्ति मणि रविदास ।'
—रविसाहब, र.भा.स.वा., पृ.३०८ ।
और,
'ज्ञानी को रूप, सो रूप हमारो' —अनुभवानंद, पद ५६ ।

सिद्धान्त पक्ष :

गुजरात के ज्ञानमार्गी सन्तों पर उपर्युक्त विभिन्न दर्शन-पद्धतियों का प्रभाव देखने पर अब हम उनकी सैद्धान्तिक एवं साधना मूलक विचारसरणि का अध्ययन करेंगे । सैद्धान्तिक निरूपण में सन्तों के प्रमुख विषय हैं :—

१. ब्रह्म निरूपण ।
२. जीव निरूपण ।
३. माया निरूपण ।
४. जगत निरूपण ।

१. ब्रह्म निरूपण :

शंकर का केवलाद्वैत ही प्राय: गुजरात के सन्तों का अद्वैत सिद्धान्त है । अर्थात् उनकी दृष्टि में ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है : ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापर: : । आचार्य शंकर द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म के स्वरूप एवं तटस्थ लक्षण के आधार पर इन सन्तों ने सगुण एवं निर्गुण दोनों का महत्त्व स्वीकार किया है । राम और कृष्ण के सगुण रूप की विराट निर्गुण-परक कल्पना कर ब्रह्म को इन्होंने ऊँचे घाट का वासी कहा है । इस आधार पर इनका सगुण ब्रह्म निर्गुण ब्रह्म का ही विस्तार है —

'सगुन वेत्ता निर्गुन को है, निगुन पोषक सगुन को ।
ज्यों पुरुष की परछाहिं दर्पन, आनन समर्थो जन को ।'
—अखाकृत ब्रह्मलीला ३:३ ।

और भी,

'रग-रग राम रमि रह्यो,
निरगुन अगुन के रूप ।
राम श्याम रवि एक ही,
सुन्दर सगुण सरूप ।' —रविसाहब ।

निर्गुण और सगुण का भेद वस्तुतः नाम रूपादि का भेद है । यह भेद पानी से पाला[१] और स्वर्ण से आभूषणों[२] की भाँति प्रतिभाषित होता है । भेद प्रतीति का कारण बहिर्मुखी लोकदृष्टि है जो सत्यासत्य की परीक्षा नहीं कर पाती । गुणातीत एवं स्थितप्रज्ञ ही उस पूर्ण ब्रह्म का पारखी हो सकता है जो द्वैत का वाणिज्य नहीं करता ।[३] वह तो केवल उस सोऽहं अथवा अद्वैत तत्त्व का सौदा करता है जो वाणी का विषय नहीं है । उसकी दृष्टि में ब्रह्म को छोड़कर सभी असत् : अणछतुं : है ।[४] वेदान्त में ब्रह्म को 'एकमेवाद्वितीयम्' कहा गया है, किन्तु ज्ञानी कवि अखा ने तो इससे भी आगे बढ़कर कबीर की भाँति कहा है कि 'ब्रह्म एक है'— इस तरह संख्या से भी क्यों सूचित किया जाय ? 'बोधिचर्यावतार' में इसीको अनक्षर तत्त्व की संज्ञा से विभूषित किया गया है जिसके सम्बन्ध में मौन भाव धारण करना ही उचित समझा गया है । अखा ने भी कहा है कि जहाँ ब्रह्ममय ही सबकुछ है, अन्य का अस्तित्त्व भी नहीं वहाँ यह भी कैसे कहा जाय कि ब्रह्म एक है । वह तो निर्विकार, निर्विकल्प, निरुपाधिक, अखंडित, अविनाशी, निरधार, निर्गुण, निराकार, नित्य तथा निजानंद है । प्रीतम ने उसे शुद्ध, चैतन्य, साक्षी, प्रमाता, प्रमाण, और प्रमेती आदि पंचनामों से अभिहित किया है ।[५] सभी उसमें समाये हुए हैं किन्तु फिरभी वह सर्वातीत है ।[६]

---

१. 'और नहिं कोई कला हरि तें,
ज्यों पानी को पाला भयो ।' —अखाकृत ब्रह्मलीला ३:१ ।

२. 'भया कंचन अनंत आभूषण,
यु जाने जन मूल के लेखे ।' — अखा ।

३. 'राम-रतन का पारखु, करडा ताका ताक ।
गुनातीत बिन जे अखा, हाथ न पावे खाक ।।' —अखाकृत साखी
:रामपरीक्षा अंग—८ :

४. 'दुनी पाछे पैदा हुआ खलक आगे खप जाउ ।
अछतासा बिच है अखा तो कहा बात बनाउ ।।'—अ.सा.:तत्त्वभेद को अंग-३ :

५. 'शुद्ध चैतन्य साक्षी प्रमाता, प्रमाण प्रमेती जेह,
कहे प्रीतम पंचनाम ब्रह्म के, अनुभवे अलखे जेह ।'—प्रीतम ब्रह्मस्वरूप वर्णन—३ ।

६. 'चंदा नहीं, सूरज नहीं, नहीं नवलख तारा,
हुं नहीं, तु नहीं, ते नहीं, उनका सर्वप्रसारा ।'—अखा, न.का.दो.,पृ.४७५ ।

प्रीतम के शब्दों में ब्रह्म उस समुद्र के समान है जो प्रलयकाल में पूर्णत: भरा होता है ।[१] सागर में बुदबुदे के समान सृष्टि जन्म लेती है ।[२] जिस प्रकार सिन्धु में अनेक लहरें उठती हैं, ठीक उसी प्रकार ब्रह्म में सारा संसार जन्म लेता है ।[३] पानी के बीच जैसे कोई अन्तराय नहीं होता, व्योम के बीच जैसे कोई झाड़ी नहीं रोपी जा सकती, वैसे ही ब्रह्म भी निरावरण है।[४] अखा ने ब्रह्म को 'अणलिंगी'[५] कहा है क्योंकि न वह स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक ही है । वह 'अजन्मा' है जिसके न कोई आगे है न पीछे है और न बीच में ही है । बल्कि अपने आप में वह स्वतन्त्र है ।[६] उसका स्वरूप अनिर्वचनीय है । वेदों में इसीलिए उसे नेति-नेति कहकर पुकारा गया है ।

कबीर की भाँति अखाने भी ब्रह्मानुभूति को 'गूँगे का गुड़' कह कर अपनी असमर्थता प्रकट कर दी है । [redacted] शब्दातीत ब्रह्म के निरूपण में श्रुति की वाणी भी [redacted] छूट जाती है क्योंकि उस 'महापद' की बात ही कुछ निराली है ।[७] इसीलिए अखा ने उसे अनुभवगम्य

---

१. प्री.दा.सा., ४ ।
२. वही ५ ।
३. वही ६ ।
४. वही ७ ।
५. अ.छ. २२ ।
६. 'आगे ना था पीछे ना था, बिचली नहीं है सारा,
ज्युं का त्युं एक रामस्वतंतर, कहत अखा सो ना रा ।'
अप्रसिद्ध अक्षयवाणी पृ.२१७ ।
७. 'शबदातीत सुरत की लगना, चोज ग्राही चिद्घन की,
ग्राहक ग्रहण ग्राह्य नहिं तामें, वाणय छुटी जहाँ श्रुत्य की ।
रूप अरूपी आप अखा है, बुझ बड़ी एक गत्य की ।
संतो बात बड़ी महापद की ।।'
अ.वा. पृ.२७८ ।

बताया है । अनुभव के बल पर ही उस अकल, अरूपी तथा अनिर्वचनीय तत्त्व का साक्षात्कार किया जा सकता है ।[1] तीर्थ, व्रत, ब जप जाप, पूजा-पाठ आदि सभी कर्म-काण्डों के बीच उनकी मुक्तभोगी दृष्टि जिस सत्य को भेद सकी है वह शास्त्रज्ञान, ध्यान, धारणा आदि सभी से परे है ।

'शब्दातीत निगम मुख गावे,
बामैं हम हम भीतर बोले,
जाको जोगेश्वर ध्यान लगावे,
शब्दातीत निगम मुख गावे । ध्रुव १ ।
उपनिषद् कहत आनंदमय,
प्रकृतिपार पंडित बतावे,
जाकुं रटत है महा मुनीश्वर,
सो ज्ञानी घर बैठे ही पावे ....२ ।
कोई तप तीर्थ व्रतादिक त्यागी,
को यमुना वृंदावन चायो,
कोई क्षीर-सागर बहुविध वादी,
सोई सिंधु स्त्रग नावत नायो .....३ ।
जैसे पारस स्पर्श धातन कुं,
सोई साधन को साध्य नव जायो,
कहे अखो ये ही अकथ कहानी,
नहिं कछु पायो मैं नहिं गमायो ....४ ।
— अखा वाणी — पद ३८ ।

निरांत ने इसीको 'बिन रसना रस मीठा' कहा है ।[2] ऐसा साहेब सब घट मैं एक समान है । खंड-खंड मैं अखण्ड ब्रह्म है जहाँ

---

१. 'रूप, अरूपी जे नरा, अनुभै अकल अरूप'—संतप्रिया ।
२. 'निरांत काव्य' पृ.८२ । भजन ११४ ।

'अनभै' की आवाज हो रही है ।[1] निरात ने शब्द ब्रह्म की इसी साधना पर जोर देते हुए कहा है कि नाम रूपी नौका में बैठनेवाला साधक पलभर में भवसागर के पार उतर सकता है ।[2] नाम की साधना वस्तुतः निरंजन की साधना से भी अधिक है ।[3] जिस प्रकार रैदासने उस परम तत्त्व को बाजीगर कहा है, निरात ने भी 'बाजीगर' की बाजी पर बलिहारी होने की बात कही है । सच तो यह है कि बाजी को देख सभी राजी होते हैं किन्तु बाजीगर को कौन बूझता है ?

रैदास[4] —

'बाजीगर सो राचि रहा, बाजी का मरम न जाना ।
बाजी झूठ साँच बाजीगर, जाना मन पतियाना ।।२।।'

निरात

'बाजी की मैं जाऊँ बलिहारी, बाजी ऊपर सब राजी,
बाजीगर को कोऊ न बूझै, ऐसी अकल मत छाजी ।[5]

ब्रह्म के विषय में सन्तों की दृष्टि सर्वात्मवादी थी । अतः उन्होंने सर्वत्र व्यापक तथा विराट ब्रह्म की कल्पना की है । अखा ने इसीलिए कहा है कि जो भी दृष्टिगत है वह और कुछ नहीं एक ब्रह्म ही है ।

---

१. 'खण्ड खण्ड में अखंड ब्रह्म है, अनभै होत अवाजा रे,
बाहेर भीतर एक निरंतर, घोर गगन में गाजा रे ।
जहाँ से उपना वाही समाना, शून्यरूप निरबानी रे,
निरात नाम अखरपद पूरन, बामें सुरत समानी रे,।' — निरात काव्य पृ.१४५ ।

२. 'निरात नौका नाम की, तामें बैसे आय,
पार पहोंचाड़े पलक में, बहोर न फेरा खाय ।' वही पृ.२:११ ।

३. 'नाम निरंजन से अधिक, नाम एक निज नाम,
सब घट में व्यापी रहे, नाम निरंजन ठाम ।' वही पृ.२: १० ।

४. 'संत काव्य' पृ.१८७:४ ।

५. 'निरात काव्य' पृ.६५ :१३८ ।

आत्मज्ञानी ही उस `एक` को देख सकता है जो सर्वव्याप्त है ।[1] दादू ने तो तीन लोक, पाँचसौ गुणों और बन के समस्त पशु-पक्षियों को अपना गुरु बना लिया है क्योंकि ब्रह्म की प्रतीति सभी में होती है ।[2] वह तो दीपक का ऐसा तेज है जो दसों दिशाओं में बिना बाती और बिना तेल के जल रहा है ।[3] निरांत ने इसी भाव का अनुसरण करते हुए कहा है कि वह साहेब सर्वत्र प्रसारित है, घट-घट में जो बोल रहा है, वस्तुत: उसीका रूप है ।[4] बापू के शब्दों में उस `नटवर` के भेद को जानना शिव सनकादिक के लिए भी जटिल है, क्योंकि कर्ता-धर्ता एक वही है जो स्वयं चौरासी रूप धारण करता है ।[5]

<u>जीव निरूपण :</u> अखा तथा छोटम दोनों ने ब्रह्म को `शिव`की संज्ञा से अभिहित किया है तथा जीव के साथ उसकी अभिन्नता प्रकट की है ।[6] छोटम ने कहा है कि जीव जैसे ही तुरीय पद को प्राप्त करता है वह शिव हो जाता है । वहाँ किसी प्रकार का द्वैतभाव नहीं रहता । जीव और शिव का मिलन सिन्धु में सैंधव की भाँति होता है ।[7] छोटम का मानना है कि `शीव` को खोजने के लिए पहले जीव को खोजना जरूरी है ।[8] जीव को कोई वायुरूप कहता है, कोई तेजरूप । कोई उसे अणुरूप कहता है तो कोई अंगुष्ठ मात्र । कोई उसे ब्रह्म का प्रतिबिंब मानता है जो अविद्या में प्रतीत होता है तो कोई ब्रह्म की छाया अहंकार मे देखकर उसे जीव के नाम से अभिहित करता है ।[9] किसी ने जीव को सनातन-रूप मानकर उसे अज-

---

१. `देव, नर, नाग, पशु खेखिया, सब भेष लिया किरतार,
   नजरबाज ज्ञानी अखा, जुग-जुग देखन हार ।` - श्री.अ.सा.७७।२:८ ।

२. `दादू सबही गुरु किये, पसु पंषी बनराइ ।
   तीन लोक गुण पंचसौं, सब ही माहिं बुदाइ ।।६४।।`- संत काव्य पृ.२६२।

३. `संतकाव्य` पृ.२६३:६७ ।

४. `निरांत काव्य` पृ.८२:११४ ।

५. प्रा.का.मा, ग्रन्थ ७ पृ.२५ ।

६. `जीव केहे मैं दो भया, शीव ताहां बोलण न होय ।
   जीव ईश्वर जामें अखा, सो जानत विरला कोय।।`-अ.सा.:आत्यमपरिचा को अंग :

७. `जीव गया तुरीया पदे, जीव शिव हो जाय,
   सिंधु में सींधव मील्या, द्वैतभेद न रहाय ।` छो.प.क.पृ.३११:१८ ।

८. छो.प.क.,पृ.३११:२० ।

९. वही पृ.३११: ६ ।

अविनाशी कहा है तो किसी ने जीव को क्षणिक माना है जैसे दीपक का प्रकाश होता है । अर्थात् प्रत्येक ने अपनी-अपनी सूझ-बूझ के अनुरूप अपने-अपने पंथ में जीव की विभिन्न व्याख्यायें की हैं, किन्तु ये सभी वेद का अर्थ नहीं समझते इसलिए लक्ष्य से भटक गये हैं । छोटम ने अखा की भाँति [1] जीव को जड़-चेतन के बीच की कल्पना मात्र कहा है—

> 'काष्ठ अग्नि संजोगते, धुआ प्रगट ज्यों होय,
> जड़-चेतन बीच कल्पना, जीव कहावत होय ।।
> पशुनाम है जीव को, देहपाश के माँह्य,
> ताको पति महेश है, ताकु बंधन नाय ।।[2]

प्रीतम ने कहा है कि जिस प्रकार आकाश का कभी नाश नहीं होता, आत्मा भी उसी प्रकार अखण्ड एवं अद्वैत है । आक के रस में जैसे अभ्र होता है, तरुवर में जैसे पत्ते लगते हैं, ब्रह्म में भी उसीप्रकार देह का आवागमन होता रहता है । ब्रह्म तो अनादि तथा अटल है, अरूप तथा अछेद है । अग्नि के अंबार से जिस प्रकार अगणित दीप प्रकटित होते हैं, उसीप्रकार ब्रह्म से जगत के समस्त जीव जन्म लेते हैं ।[3]

अखा ने आत्मा को चन्द्रमा की उपमा दी है जो अपनी ज्योत्सना से अरण्य वीथिका, मंदिरों और शिखरों को ज्योतिर्मय कर रही है ।[4] दादू ने इसी एक 'नूर' को ब्रह्म तथा जीव का मेला कहा है । रस में से जैसे रस निकाल लिया जाय और ज्योति

---

१. 'जैसे अग्नि काष्ठ के संगे, निकसत धुँवा सोई,
फीट्या धुआ फिर अग्नि न पावे, कथ-कथ गये सब कोई ।'

२. छो.प.क., पृ.३११:१३-१४ ।

३. प्री.सा. १०-११ ।

४. 'अखेगीता', १२-१ ।

प्रकट होती हो, उसी प्रकार ब्रह्म तथा जीव का यह मेला लगा हुआ है ।[1] जीव और ब्रह्म में वस्तुतः कोई भेद नहीं, है, ठीक वैसे ही जैसे अग्नि से उठनेवाली चिनगारियाँ अग्नि से भिन्न नहीं होती । वस्ता ने ब्रह्म तथा जीव के सम्बन्ध को अरस-परस कहा है ।[2] अहं के कारण जीव अपने को पूर्ण से अलग मान बैठता है । अखा ने इसे काच के मन्दिर में कुत्ते की स्थिति के समान कहा है ।[3] न वह मिथ्या है, न वह सच है । जहाँ जन्म-मरण और भ्रम अथवा संशय आदि कुछ नहीं होता ।[4] ब्रह्म उस हीरा के समान है जिसकी प्रतीति हृदय में अनायास ही होती है[5] वह एक ऐसा चुंबक है जो आत्मा रूपी लोहे में चेतना पैदा कर देता है ।[6] आत्मा तथा परमात्मा के बीच विभेद पैदा करने वाले इस 'अहं' को अखा ने 'गैन' और आत्मा को 'ऐन' कहा है ।[7] 'गैन-गैन जावे [redacted] एन-एन आपे होवे, कहे न सके अखा बात तेती ।'[8] अहं के

---

१. 'रस माहे रस होइबा, जोति सरूपी जोइबा,
ब्रह्म जीव का मेला, दादू नूर अकेला ।' — संत दादू पृ.३६:४६ ।

२. 'अरस रूप साहेब सदा,
परसरूप है जीव ।
अरस परस एक मिल रह्यो,
आपे शिवे – शिव ।' — वस्ताकृत साखी :अंग अरसपरस को-११:

३. 'ज्यु काच-मंदिर में कूकरो, मसी मर्यो सिर फाड़,
भिन्न देख्या स्वान, प्रतिबिम्ब बिना विचार ।' —श्री.अख सा.३३।१ ।

४. ब्रह्मलीला ६:१ ।

५. वही ८:५ ।

६. वही ८:१ ।

७. 'संतो, गैन गया, ऐन सूझ्या'

८. 'झूलणा, अखयरस' ६८:४६ ।

छूटे बिना आत्मा वस्तुत: सहज का भोग नहीं कर पाती ।[1] इस अहं का विनाश आखिर कैसे हो ? अखा ने अहंता को दूर करने के लिए भक्ति, भजन और वैराग्य को श्रेष्ठ साधन माना है ।[2] निरांत ने जीवात्मा को 'सुरति' की संज्ञा से अभिहित करते हुए उसे ब्रह्म से अभिन्न एवं अखण्ड कहा है जो जाति, जन्म-मरण, आदि-अन्त सबसे परे है —

'उतपत परले नहीं हमारे, जाणे कोई एक जोगी रे,
हम सरीखा सो हमकु बुझे, बीजा सखे विजोगी रे ।
जुनी राह से जीव चलत है हम है जहां के त्याहीं रे,
अपरंपार गये जुग बीती, पंथ हमारे नाहीं रे।
हम अनादि और न दुजा पार भये पहेचाना रे,
अलख खलक पूरण परकाशा अखंड ब्रह्म हम जाना रे ।
खंड खंड में अखंड ब्रह्म है अनमे होत अवाजा रे,
बाहेर-भीतर एक निरंतर घोर गगन में गाजा रे ।
जहां से उपना वांही समाना शून्य-रूप निसानी रे,
निरांत नाम अक्षरपद पूरण, वामें सुरत समानी रे ।[3]

संक्षेप में, गुजरात के सभी ज्ञानवादी सन्तों ने आत्मा तथा परमात्मा की अखण्डता ही सूचित की है । आत्म-प्रतीति होने पर ब्रह्म-प्रतीति स्वत: हो जाती है । अहं आत्मा और परमात्मा के भेद का कारण है । किन्तु, अन्तर के नयनों से देखने पर पिंड और ब्रह्माण्ड की एकरूपता ही प्रतिभाषित होती है ।[4]

---

१. 'अखा अहं छूटे बिना, न होय सहज का भोग,
अहं छूटे ते अहं रहे, तब मिल्या सहज का जोग ।' श्री.अ.सा., ३०।२१ ।

२. 'अहंता टारनकु अखा, भक्ति भजन वैराग,
लींब लूण मीठा भया, जब उस्या ज्ञान का नाग ।' अखा ।

३. 'निरांत काव्य', पृ.१४५ ।

४. 'बड़ा अचम्भा मीत का, जे साव ग्रहे सब ठौर ।
अन्तर नेनु देखते नहीं अखा तुं और ।।' अ.सा.: स्वे.अंग १३ :

<u>माया निरूपण :</u> जिस प्रकार ब्रह्म अजन्मा है उसी प्रकार माया भी अजन्मा है । किन्तु वह ब्रह्म के समान सत्य नहीं है । उसमें से सर्जित जगत भी `सत्` नहीं है । सगुण ब्रह्म भी माया की ही देन है । जीव, जगत तथा ईश्वर का भेद व्यावहारिक है । इनकी व्यावहारिक सत्ता आभास मात्र ही है । वह दृष्टिगत है यह सत्य है, किन्तु वह वैसा ही है जैसा दृष्टिगत है यह एक भ्रमणा है । यह सभी माया का विस्तार है । प्रतिभासित जगत तथा आत्मा ब्रह्म के ही दो नाम हैं, जैसे बर्फ का ढेर, पानी और पाला तत्त्वत: एक ही है परन्तु नाम अलग अलग हैं ।[1] प्रीतम के अनुसार जीव पर माया का आवरण पड़ा हुआ है । यह आवरण आठ प्रकार का है [2] —

१. पृथ्वी । २.पानी । ३. तेज,। ४. वायु ।
५. गगन । ६.गुण । ७. अहंकार।८. मन ।

इस माया को प्रीतम ने अविद्या, अव्याकृत, अक्षर, अज्ञान, प्रकृति, अजा, चैत्र, धाम, प्रधान आदि विभिन्न नामों से अभिहित किया है ।[3] छोटम ने तो कल्पनामात्र को माया कहा है ।[4] जिस समय ब्रह्म माया को अंगीकार करता है उस समय माया में ब्रह्म का तेज प्रविष्ट होता है । ऐसी अवस्था में माया स्वत: सर्जक ईश्वर होकर विलसती है । अखा का कहना है कि एकरंगी काच की हरी, पीली, श्वेत, काली आदि अनेक रंगोंवाली इमारत सूर्य के प्रकाश से प्रतिभाषित हो उठती है, ठीक उसी प्रकार माया भी स्थिर है ।[5]

---

१. `अखा आलम आत्मा, नाम धरनकु दोय,
बरफज माया बन्ध का, ताहे पाला कहो तोय ।` श्री.अ.सा. २७।८ ।
२. `माया आव्रण अष्ट है, पृथ्वी उदक तेज,
कहे प्रीतम वायु गगन, गुण अहंकार मन एज ।` प्री. वा, पृ.१२८ ।
३. प्री.वा., माया अंग – २० ।
४. `देखिए – छोटम कृत साखियाँ माया को अंग – ५।१ ।
५. तुलनीय : 'The one remains, the many changes and passed;
Heaven's light for ever shines,
Earth'sshadows fly;
Life, like a dome of many coloured glass;'
-Shelley.

ब्रह्म तथा उस पर प्रकाश फेंकता है जिससे माया ब्रह्ममय हो जाती है तथा व्यष्टिरूप जीवात्मा का स्वरूप धारणकर सत्यरूप में प्रतिभाषित होने लगती है। जीव असत् है फिर भी मायावश अपनी स्वतन्त्र सत्ता मान बैठता है और ब्रह्म के रहस्य से अज्ञेय रहता है।[१] संतों ने वेदान्त का अनुसरण करते हुए माया के इस विस्तार को विभिन्न रूपों में समझाने का प्रयत्न किया है —

१. स्वप्नवत् सृष्टि : स्वप्न में देखने वाले को लगता है कि सर्प ने उसे डस लिया है और मृत हो जाने पर भी वह अपनी अन्त्येष्टि क्रियाओं को देखता है। यह सब स्वप्न तक ही सत्य है, परन्तु जाग्रत अवस्था में उस भ्रम की यथार्थता का ज्ञान होने लगता है व उस समय सर्प-दंश का भय समाप्त हो जाता है। यह सृष्टि भी उसी प्रकार स्वप्नवत् है। सृष्टि के ध्यान में चक्कर लगाने वाले को जाग्रत अवस्था में स्वस्वरूप ब्रह्म के साथ साक्षात्कार होते ही जगत मिथ्यारूप एवं स्वप्नवत् दिखायी देने लगता है।[२]

२. रज्जु-सर्पन्याय : अँधेरे में रस्सी को देखकर जिस प्रकार सर्प का भ्रम पैदा होता है, उसी प्रकार यह सृष्टि भी भ्रमणामूलक है।[३] अखा तो इससे भी एक चरण आगे बढ़कर कहता है कि जहाँ रस्सी ही नहीं, वहाँ सर्प की भ्रमणा कैसी ?[४] अत: जिसका जन्म ही नहीं, उसका वास कैसा ? छोटम ने इसकी तुलना नभ की श्यामलता तथा जलकी मृगतृष्णा के साथ की है।[५]

---

१. 'अखेगीता' १६।
२. अ.छ. २३५।
३. अ.छ. १४७।
४. 'रज्जु लगी सो भुजंग भ्रम है, बिन रज्जु कैसो अही।'—ब्रह्मलीला ८:३।
५. छो.सा., माया को अंग ५।२२:१३।

३. <u>बिम्बप्रतिबिम्बवाद :</u> भिन्न भिन्न प्रकार के पानी से भरे हुए पात्रों में सूर्य का प्रतिबिम्ब जिस प्रकार विभिन्न रंगों में फलकता है, किन्तु यह विकार जिस प्रकार प्रतिबिम्ब का है सूर्य का नहीं, ठीक उसी प्रकार यह सृष्टि भी ब्रह्म का माया में पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब ही है । सृष्टि माया का विकार है ब्रह्म का नहीं । वीचियाँ, लहरें, तरंगें, बुदबुदे ये सभी पानी के विकार हैं, चन्द्र के नहीं ।[१]

४. <u>चामखेड़ा का खेल :</u> जिस प्रकार नट परदे के पीछे खड़ा होकर कठपुतलियों का नृत्य दिखाता है और दीपक की सहायता से अनेक दृश्यमान आकार खड़े करता है, उसी प्रकार ब्रह्म भी इस जगत की चौरासी लक्ष जीवरूपी पुतलियों को नचाता है ।[२] इन जीवरूपी पुतलियों का खेल समाप्त होने पर सृष्टि सिमट जाती है किन्तु सूत्रधार ब्रह्म तो निर्विकार ही रहता है ।[३]

५. <u>पट्टवस्त्र एवं भात :</u> कबीर ने शरीर को जिस प्रकार 'झीनी झीनी बीनी चदरिया' कहा है अखा ने भी ठीक उसीप्रकार

---

१. अ.क्र. १६१ ।

२. 'देखो ! चमड़े केरी पूतली भीने, क्या ख्याली ने खेल रच्या है ।
देखते, सुनने, जाने, भीने, सोही खेले सो आप सच्चा है ।
दो दिन पूतलड़ी लटके कर, फिर कर सो ज्युं की त्युं होवे ?
मकरास्के छंद देखो, पीठ पुकार कर आप रोवे ।।१।।'
— अक्षयरस, झूलणा पृ.५५ ।

३. अ.क्र. १५१, १५२ ।

विश्व को पट्ट-वस्त्र के समान कहा है और जीवभाव को ताना तथा संसार को बाना के रूपकों से अभिहित किया है ।[1] अखा ने ब्रह्म की तुलना वस्त्र के 'पोत' से की है क्योंकि अगर 'पोत' न होगा तो 'भात' पाड़ना असम्भव है ।

६. <u>मृत्तिका एवं घट :</u> जीव, जगत और ब्रह्म की अखण्डता वेदान्त में मिट्टी और घट के उदाहरणों से प्रमाणित की गयी है । मृत्तिका को विभिन्न स्वरूप देकर विभिन्न नामों से सूचित किया है । वस्तुत: वह सब मिट्टी ही है । जगत का विस्तार भी ठीक इसी प्रकार हुआ है । नामरूप की भिन्नता केवल वाचारम्भण का विकार है ।[2]

७. <u>मन का बन्धन :</u> जिस प्रकार सूर्य से रात-दिवस निष्पन्न होते हैं, उसी प्रकार मन से मिथ्या जगत का भेद सर्जित होता है ।[3] मन का भ्रम दूर हो जाने पर इस संसार का अपनेआप तिरोभाव हो जाता है और पूर्ण ब्रह्म की प्रतीति होने लगती है । दादू ने इसीलिए चित्त की महत्ता पर भार देते हुए कहा है[4]

जब चितहि चित समाना ।
हम हरिबिन और न जाना ।।

---

१. अ.छ. २२४ ।
२. वही ३४ ।
३. 'मन जगत का धारण हारा, मन मुवे मिट्या संसारा,
चौद लोक स्फुर्या है मनको, ताते मन पावे बंधन को ।'—अखेगीता, पद ५।
४. दा. बा.भाग २, पृ.३५ ।

मन ही सबका आरोपण है और मन से ही मिथ्या जगत की सृष्टि होती है ।[1] वारक प्रेरक भी अन्य कोई नहीं, यह सब मन का ही दौर है । मन ही सुनता है और मन ही कहता है ।[2] मन सबका `सरदार` है ।[3]

अखा की दृष्टि में सत्य तो `मनातीत` है, जो मन को मिटा कर ही प्राप्त किया जा सकता है ।[4] वेदशास्त्र, ब्रह्मचर्य, तपस्या आदि सभी मन को रिझाने के उपकरण मात्र हैं । इन सन्तों को देह की चिन्ता नहीं, चिन्ता है मन की ।[5] देह भले ही इस नश्वर संसार में रहे किन्तु जीव हमेशा `राम` के ही पास रहना चाहिए । इस रूप में काल के त्रासों से अपने आप मुक्ति मिल जाती है । काल की लताड़ों से बचने के लिए अखाने ब्रह्म को कवच कहा है जिसे पहने बिना कोई बच नहीं सकता ।[6] इस काया और माया का चक्कर भी मन के ही कारण है ।[7] अखा के अनुसार मन ही माया है अर्थात् मन को मारना साधनापक्ष का प्रथम सोपान है । मन रूपी पवन के कारण ही माया शून्यरूपी सागर में वीचियों का खेल खेलती है ।[8] मन का लक्ष्य पलटते ही पूर्ण ब्रह्म की प्रतीति होने लगती है । ज्ञान के अभाव में मन युग युग तक भटकता

---

१. श्री.अ.सा. ३६:४ ।
२. वही ३६:५ ।
३. `मन के जीते जीत है, मन के हारे हार, औ सबका सरदार है,जो मन को लै मार।
-अमरदास .अ.भ.मा.भाग २,पृ.१३ ।
४. `मन कूं मेटि मनातीत पावे,सोतो गुरु केहे मन कल न्यारी ।` अखा ।
५. `मन लोभी मन लालची, मन चंचल मन चोर । ६. अखा की कुडलियां १६ ।
मन के मते न लागिये, मन ही को सब खोर ।।` अमरदास ।
७. `जो कछु करही सो मन का मता है, मनका ही नाच नचावना । ६१
मनहु की काया ने मनहु की माया, मन का मरम नहिं पावना । `निरातकाव्य पृ.
८. संतप्रिया ३६ ।

रहता है[1]. और ज्ञान ही एक ऐसा समर्थ साधन है
जो मन को अपने वश में कर सकता है ।[2].

<u>जगत निरूपण :</u> द्वैतवादी ब्रह्म एवं जगत दोनों की सत्ता स्वीकार करते हैं, किन्तु अद्वैतवादी जगत को अध्यास, भ्रमणा आदि कहकर यह बताते हैं कि जगत की भिन्न प्रतीति माया अथवा अविद्या के कारण ही होती है । सांख्य-दर्शन के निरीश्वर वर्गीकरण के हिसाब से प्रकृति आदि २४ तत्त्व इस सृष्टि के कारण रूप हैं ।[3]. भागवत के सेश्वर वर्गीकरण के अनुसार प्रकृति एवं उससे उत्पन्न होनेवाले २४ तत्त्वों में से सृष्टि की रचना मानी गयी है । भागवत के ११ वें स्कन्ध के २२ वे अध्याय में अनेक प्रकार के वर्गीकरण किये गये हैं । अखा के जगत सम्बन्धी विचार भागवत् के सेश्वर सिद्धान्तों से अपूर्व मेल खाते हैं ।[4]. अखा ने प्रकृति को सृष्टि का उपादान कारण तथा पुरुष को निमित्त कारण बताया गया है । सत्, रज और तम इन तीन गुणों से युक्त प्रकृति स्वयं ही माया है । इन तीन गुणों तथा उसके तत्त्वों से मिलकर ही विश्व का सृजन होता है । अखा ने अपने ढंग पर इस कथन की पुष्टि की है ।[5]. उन्होंने अखेगीता[6]. में जगत की रचना का रहस्य इस प्रकार समझाया है—आमने सामने दो दर्पण रखे हों और जिस प्रकार अनन्त सृष्टि सर्जित होती है उसी प्रकार जगत और संसार की रचना होती है । जगत और जीव मात्र ब्रह्म का विलास है, व्याप्ति है । अविकारी आकाश में भिन्न भिन्न प्रकार के बादल छाये रहते हैं किन्तु आकाश बादलों का कारण नहीं है फिरभी आकाश के बिना बादलों का होना असम्भव है, उसी प्रकार ब्रह्म ईश्वर, जगत

---

१. संतप्रिया- ४५ ।
२. वही ३६ ।
३. अ.छ. ५६ ।
४. देखिए- 'अखेगीता' कड़वा -७ ।
५. अ.छ. ५६ ।
६. 'अखेगीता' कड़वा-१६:७।८ ।

तथा जीव सभी का अहेतुक कारण है ।` धीरा का मानना है कि जगत् की नामरूपात्मक सत्ता अज्ञान के कारण ही है । अज्ञान का पर्दा हटते ही सत्यवस्तु की प्रतीति होने लगती है ।[१] जिस प्रकार आकाश से मूसलाधार पानी की वर्षा होती है और वृक्षों में वही संचित होकर पत्र पुष्पादि का सौंदर्य लेकर चमक उठता है, वस्तुत: यह एकरूप जल ही है, उसीप्रकार प्रतिभाषित रहकर जगत भी ब्रह्म ही है ।[२] भेद मात्र नाम रूपादि का ही है । सागर महाराज ने भी जीव, जगत एवं जगन्नाथ को ब्रह्म की `वृत्ति` कहा है ।[३] यह जगत न सत्य है, न मिथ्या है, ब्रह्म ही उसमें परिव्याप्त है ।[४] ब्रह्म,

इस प्रकार सन्तों ने जहाँ जीव तथा ब्रह्म की अखंड सत्ता का प्रतिपादन किया है है, वहाँ उन्होंने जगत को ब्रह्म की व्याप्ति कह कर ब्रह्म और जगत की अभिन्नता ही प्रकट की है ।

---

१. धीरोकृत कविता, पृ. ४१ ।

२. वही पृ ३२ ।

३. `अपनी हि वृत्ति करीके बनाया,
जीव, जगत, जगन्नाथा।`सागर ।`

४. `सच्चो नहीं जग । नाहीं है मिथ्या ।
व्यापत आप हि जोना ।
हो जियरा — अपना हि आपमें खोना ।
— सागर ।

## साधना पक्ष :

### भक्ति और ज्ञान :

मध्यकालीन धर्म साधना में भक्ति और ज्ञान एक दूसरे के पूरक होकर रहे हैं। भक्ति और ज्ञान के बीच की अन्तररेखा वस्तुत: वे खींचते हैं जो तर्कवादी हैं। तुलसीदास ने तर्क के सभी प्राचीरों को ढहा कर कहा कि `भक्तिहिं ज्ञानहि नहिं कछु भेदा।` कबीर के शब्दों में भक्ति कहकर नहीं समझाई जा सकती, वह अनुभव करके आस्वाद की जा सकती है।[1] वस्तुत: भक्त का भगवान के प्रति अहेतुक अनुराग ही भक्ति है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे धर्म की रसात्मक अभिव्यक्ति कहा है।[2]

गुजरात के सन्तों ने स्वयं को ज्ञानी की संज्ञा से अभिहित करते हुए[3] भक्ति तथा ज्ञान के बीच वस्तुत: कोई भेद नहीं माना।[4] इनकी दृष्टि में आत्म-ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है जो पारस-मणि के समान है। ऐसा ज्ञान शुष्क न होकर स्वसंवेद्य एवं भक्ति का पूरक है।[5]

अखा ने भक्ति को एक ऐसी विहंगिनी कहा है जिसके ज्ञान और वैराग्य रूपी दो पंख हैं।[6] उनकी भक्ति का स्वरूप ऐसा है जहाँ अदम्य आस्था एवं भाव प्रवणता चाहिए। क्योंकि भगवान तो भाव का भूखा है उसे न चातुरी चाहिए और न वह रूप, वर्ण कुल अथवा जाति पर ही रीझता है।[7] भक्ति के इक्यासी प्रकार अखा को मान्य नहीं, उनकी भक्ति का स्वरूप बयासीवाँ है। रवि साहब ने जहाँ ज्ञान को दीपक, वैराग्य को शशि, योग को सूर्य कहा

---

१. कबीर--आ.हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ.२२० ।
२. `तुलसी ग्रंथावली` आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ।
३. `ज्ञानी को रूप सो रूप हमारा।` अनुभवानंद ।
४. `भक्ति जुक्ति जे ज्ञान है, सोइ ज्ञान शुभ साइ।` प्रीतमदास, ज्ञान अंग--२५ ।
५. `ज्ञान ज्ञान सब को कहे, आतम ज्ञान सो ज्ञान।
कहे प्रीतम पारसमणि, और सवै पाषाण।।` प्रीतमदास, ज्ञान अंग २३ ।
६. `अखेगीता` १०:७ ।
७. श्री अ सा ४८।१० ।

है वहाँ भक्ति को ऐसी चिन्तामणि बताया है जहाँ उदय और अस्त का प्रश्न भी उपस्थित नहीं होता ।[1] कोटि उपाय करने पर भी मानव देह की मुक्ति भक्ति के बिना असंभव है ।[2] रविसाहब का कहना है कि काया को कष्ट देने पर काल से मुक्ति नहीं मिलती, न जप तप करने से ही छुटकारा मिल सकता है और न भगवा-वस्त्र पहनने से परब्रह्म का स्पर्श हो सकता है । रामभक्ति के बिना सब निरर्थक है ।[3] प्रीतमदास ने भक्ति और माया को ब्रह्म की दो सुन्दरियाँ बताया है जो सदा ब्रह्म के पास ही निवास करती हैं । किन्तु भक्ति अटल है जबकि माया स्वप्न विलास है । दैवी प्रकृति को भक्ति प्यारी है जबकि आसुरी प्रकृति को माया ।[4]

<u>भक्ति का स्वरूप :</u>

शास्त्रों में भक्ति के जिन रूपों को पराभक्ति तथा गौणी भक्ति कहा गया है सन्तों ने क्रमशः उन्हें निर्गुण तथा सगुण साधना के नाम से अभिहित किया है ।

गुजरात के सन्तों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनकी भक्ति का स्वरूप पूर्णतः असाम्प्रदायिक है, जिसमें निर्गुण-सगुण का कोई भेद है ही नहीं । सगुण साधना को इन्होंने निर्गुणभक्ति तक पहुँचने का प्रथम सोपान माना है । इन सभी सन्तों ने सगुणभक्ति

---

१. 'ज्ञान दीप वैराग शशी जोग अर्क सम भास,
उदय अस्त साधन सकल, भक्ती मणि रविदास ।'-र.भा.स.वा,पृ.३०८ ।

२. 'तपसी काहेकु तप आदरे ?, तप से निज तंत है न्यारा,
पंच मुखे अग्नि परजाले, ऊंधे मस्तक खाये भुलारा,
बहोत कष्ट देवे कायकु, कबहु न रीझे किरतारा ।
एक अंगूठे शरीरकु तोले, मौन ग्रही बंध ही बारा,
ऊंच हस्त, नख वेंत बराबर, परसत नहीं परिब्रह्म प्यारा,
जड़ बुद्धिए फिरत जग में, भगवा कर लीना भा रा ।
नहीं निज ज्ञान चढ़ी गया माना, अंते नर्क महीं निरधारा,
खेचाताणी जोर पराणी, उलटे पवन चड़े सुन दद्वारा,
कहे रविदास रंकार भक्ति बिन, नहीं छूटे भाई जममारा ।'र.भा.भो.वा.पृ.२३।१

३. र.भा.स.वा, पृ.१४७ ।

४. 'भक्ति माया दोऊ सुन्दरी,रहे प्रभु के पास,कहे प्रीतम भक्ति अटल,माया सुपनविलास
दैवी कु भक्ति प्रिय,आसुरी माया मोह,कहे प्रीतम ए अनादि के,मारग कहिये दोष।।
प्रीतमदास भक्ति अंग १८:१९ ।

का अर्थ स्थूल मूर्ति पूजा के रूप में न लेकर 'आलम्बननिष्ठ भक्ति' के रूप में ही लिया है । इनका मानना है कि सगुणभक्ति के बिना निर्गुण की चर्चा करना पानी से स्पर्श किये बिना एक सफल तैराक बनने की किसी अनहोनी भावना के समान है । यद्यपि इन समस्त सन्तों की साधना मूलत: अन्तर्मुखी है[1]; इनकी साधना ज्ञानी की साधना है जो अनुभव, वैराग्य तथा सदाचार की भित्ति पर खड़ी हुई है । इनकी दृष्टि में दुराचारी मनुष्य ईश्वर प्राप्ति की उत्कट अभिलाषा रखते हुए भी तथा लाख प्रयत्न करने पर भी साधना के मार्ग में किसी भटकते हुए पंथी के समान है । बाह्य विधि-विधानों के प्रति उनके मन में घृणा है । कबीर की तरह इनकी भक्ति का आदर्श भी 'सती' और 'सूरा' का आदर्श है और भक्ति का अगम पथ 'खाँडे की धार' है ।[2]

गुजरात की साधनात्मक पृष्ठभूमि के पीछे विशेष उल्लेखनीय तथ्य तो यह है कि उत्तरीभारत की भक्ति-साधना का विकास प्राय: निर्गुण से सगुण की ओर है जबकि गुजरात की भक्ति सगुण से निर्गुण की ओर अभिमुख होती हुई प्रतीत होती है । नरसिंह और मीरां की सगुण-साधना के अंकुर इस भूमि में इतने गहरे उतर गये हैं कि वैष्णवधर्म के बाह्य कर्म-काण्डों के विरुद्ध उदभूत

---

१. 'भीतर खोजो रामकु, बाहर का धावो ?
बाहर खोजे नहीं मिले, भीतर हरि पावो ।'

—रवि साहब, र.भा.मो.वा, पृ.३७ ।

२. 'हरिनो मारग छे सूरानो,
नहीं कायरनो काम ।'

—प्रीतमदास ।

होने वाली निर्गुण धारा में सगुण उपासना का सहजीकरण स्पष्ट ही दिखायी देता है ।[1] गुजरात के सन्तों में वस्तुत: सगुण-निर्गुण की खंडन मंडन की प्रवृत्ति है ही नहीं । ज्ञान के चक्षुओं से जहां इन्होंने ब्रह्म का साक्षात्कार किया है[2]; वहां हृदय के चौराहे पर मोर मुकुटधारी कृष्ण के साथ गोपिका बनकर फागुन का खेल भी खेला है :—

'हो कनैया मेरे चाचर आई,
चाचर खेलन मैं जो गइ 'मोहन' जी के आगे,
मन मोहन मेरो मन हर्यो मोरली के रागे ।
मोरली के रागे हो ।[3]

---

१. 'सुनेरी मैंने हरिमुरली की तान । ध्रुव०
उस मुरली ने मोहे जगाई, दौरी सुनत हैरान ।
इतउत बाजे अनहद गाजे, भरा मुरदों में प्रान ।
बाज बजैया एकहि काना, जान लियो अनजान ।
सूना सूनाना गाना बजाना, भूल भई गुलतान ।
सासा छूटी आसा टूटी, सेवत 'रंग' समान ।'
—रंग अवधूत, अवधूती आनंद, पृ.४५ पद ६६ ।

२. 'झलमल ज्योति सो स्थल झमकारा,
अनहद नाद बाजत रनकारा,
सच्चिदानंद आनंद गोविन्द गुन गावे,
संगोसंग तानन में ।.. जनम .. ५
कहत धीर यह दासन के दासा,
हरि जैसो होवै सो जावै हरिपासा,
साइ स्मरन आपे नारायन गुन गावे,
महापद पावे जश होवे जिहानन में । .. जनम ..६ ।
धीरोकृत कविता पृ.२०६ पद ११ ।

३. 'धीराकृत कविता' प्रा.का.मा., ग्रन्थ २४, पद ६, पृ.२०४ ।

## भक्ति की विशेषताएँ :

गुजरात के सन्तों की भक्ति साधना मूलत: अन्तर्मुखी है । भक्ति के माध्यम से इन्होंने आत्म-प्रतीति की है । इनकी साधना में साधक की उस सहजानुभूति का भाव है जो विधि-निषेध, हानि-लाभ, निंदा-स्तुति, ध्यान-धारणा, तीर्थ-पूजा के संकीर्ण घेरों से निकल कर परम तत्त्व के साथ एकरस हो गया है । जिसे आत्मदर्शन नहीं, वही अन्य उपचार करता है ।[१] इसी सहजावस्था में साधक तनरूपी मन्दिर में ब्रह्मलीला का खेल खेलने वाले ब्रह्म स्वरूप कृष्ण को मुक्ति रूपी यशोदा और भक्तिरूपी राधा के साथ अखंड विहार करते हुए देखता है ।[२] अर्थात् भक्ति के विमल भाव से ही साधक निजानंद निर्गुण रूप की प्रतीति सगुण के रूप में करता है ।[३] 'काया नगर' में उस 'प्रेम प्यारा' के दर्शन कर साधक ओहं सोहं का जाप जपता है[४] और शान्ति तथा सत्य की आत्मा से प्रसूत परमानंद बाल मुकुन्द को रहस्य के परदे पर खेलते हुए देखकर वह बधाई के गीत भी गाता है ।[५]

सन्तों की यह साधना अन्तर्मुखी होते हुए भी नितान्त भावमूला है । उन्होंने इसे 'भोली भक्ति' कहकर अभिहित किया है ।[६]

---

१. 'ज्याकु आप दर्शा नहीं, सो करे और उपचार ।'-अखाकृत साखी
: भक्ति विवेक अंग-५ :

२. प्रीतमदासकृत ब्रह्मलीला ४४, ५३, ५४ ।

३. 'निजानंद निरगुण निजरूपा, भक्तभाव मये सगुण स्वरूपा ।'
-प्रीतमदासकृत ब्रह्मलीला ४० ।

४. 'काया-नगर में प्रेम-पियारा, देख-देख दिल भाया रे ।
ओहं-सोहं दोनुं जाप अजपा, गुरुगमे दरसाया रे ।'- भवानीदास ।

५. 'निहार्यो नेहभर बाल मुकुन्द,
शान्त देवकी सत्य वसुदेव तें, प्रगट्यो-परमानंद ।'-नाथ भवान ।

६. 'अखा तुं भोरी भक्ति कर्य, जो साईं [illegible] रीझया चाहे ।'
-अ.सा. भोरी भक्ति अंग-१ ।

इसीलिए भक्ति को इन्होंने वैराग्य तथा ज्ञान से भी श्रेष्ठ माना है । भक्ति के पंख लगा ये संत सदैव ऊर्ध्व उड़ाने भरते रहे । संतों की इस अनन्य भक्ति की कुछ प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं —

<u>प्रेम तथा विरह :</u> गुजरात के सन्तों की भक्ति नितान्त भावरूपा है जिसमें प्रेम की मस्ती तथा विरह की आकुलता है । इस आकुलता का एक कारण जहाँ सूफी प्रभाव है वहाँ इसका आदर्श वैष्णव प्रपत्ति भी है । प्रेम का खेल तो सिर देने पर ही खेला जा सकता है ।[१] प्रेम का पंथ ऐसा लाक्षणिक है जहाँ ज्ञान और ध्यान की गाँठ बाँधकर नित प्रेम की याचना की जाती है और मन हमेशा प्रेम की मस्ती में नाचता रहता है । दादू ने इस प्रेम पंथ में नवधाभक्ति और प्रेमलक्षणा की प्रतिष्ठा की है ।[२] सन्तों का यह प्रेममार्ग भारतीय मर्यादा तथा एकनिष्ठता का परिचायक है । इस एकनिष्ठता में संयम, त्याग और तपस्या की परिणति है । आत्म-समर्पण इसका प्रथम सोपान है ।[३] इनका प्रेम, पतिव्रता के प्रेम से किसी माने में कम नहीं ।[४] इनका प्रेमी तो जनम जनम का साथी है ।[५] अखा के शब्दों में यही उसका 'मीता' है, 'ढोलन ढलका' है जो सहेजे सहेजे आया है । मीराँ की तरह अखा ने भी अपने प्रिय को लालनजी, महाराजा, साइयाँ, पियु, साजन आदि मधुर

---

१. 'प्रेम खेल है ऐसा रे, सो सीर जात अंदेसा रे ।' अप्र.अक्षयवाणी, पृ.६६ ।
२. 'नवधाभक्ति प्रकार न्यारा, नित प्रेमलक्षणा राची रह्यो' संत दादू, पृ.३१ ।
३. 'साच सती और निज भक्त दोनु की एक टेक ।
तन मन कुं पहेलुं बीया, अब को करे वीवेक ।।' अ.सा. २२ ।
४. 'पतिव्रता के एक है, दूजा नहीं' दादू १।६३ ।
और, 'मैं पतिव्रता नार पियु की, बाहर कबहु न जाऊँ ।
चरखा फेरुँ पियुको हेरुँ, आन पुरुष नहीं चाहूँ ।'
रविसाहब, र.भा.मो.वा., पृ.३१ ।
५. संत दादू ३२ ।

संबोधनों से अभिहित किया है ।[1] इन सन्तों ने प्रेम की व्यंजना मधुर दाम्पत्य प्रतीकों के सहारे की है ।[2]

विरह प्रेम की कसौटी है । गुजरात के प्रायः सभी सन्तों ने 'ब्रेह अंग' पर अपनी कलम चलायी है । इन सन्तों के विरह का आदर्श है ब्रज की नारियाँ[3] जो न मृत्यु से डरती हैं और न अग्नि से । वे तो उस अगम स्थान में पहुँचना चाहती हैं [illegible] जहाँ उनका प्रिय निवास करता है । जिस प्रिय की प्रतीक्षा में चार प्रहर चार युगों की तरह बीते हैं रात्रि जागरण में बीत गयी और ये आँखें उस 'चितचोर' की ओर टकटकी लगाकर उसी प्रकार देख रही हैं जिस प्रकार चकोर चंद्र को देखा करता है प्रिय दर्शन के बिना ये प्राण अब तक क्यों नहीं

---

१. देखिए अखाकृत जकड़ी ६, २६, ३६ ।

२. 'मेरे पिया बिना मैं भयी बहावरी,
मत आन्य करो उपाव री ।
मोहे बैद मीले बोहो भात के,
चार वरण आश्रम की जात के ।

००   ००   ००

मीले कौन पिया को मिलावनहार,
मैं तो दासी ने ओ है दातार ।
निरांत मिले गुरु आयके,
खोयो दुख पिया नाम मिलाय के ।'

—निरांत काव्य पृ.१०६ ।

३. 'साचो ब्रेह व्रजनार को, छोड चली परिवार,
कहे प्रतम पियाकुं मिली, गावत गुण संसार ।'

— प्री. वा., पृ.१२१:२३ ।

निकल गये ?[१] "प्रिय के परदेश चले जाने पर जीना मुश्किल हो गया है । पिया के उस देश में न कोई जाता है और न वहाँ से कोई खबर ही लाता है । हाय, मैं अपना संदेश किसके द्वारा भेजूं ? सच तो यह है कि मैं उस परदेशी के संग-संग चलना चाहती हूँ अगर इन्कार कर दिया तो निश्चय ही मैं मर जाऊँगी क्योंकि मैं उनकी मूर्ति के बिना अपनी सूरत तक नहीं दिखा सकती ।[२] अस्थि और माँस रूपी नीड़ में प्राणरूपी पंछी कैदी बनकर छटपटा रहा है, कालरूपी अहेरी सिर पर घूम रहा है ।[३] तन रूपी कोड़िया :दीपक: में विरहरूपी तेल जल रहा है जिसमें प्राणों की बाती है जो पति मिलन के लिए दिन रात जल रही है ।[४]

सन्तों की इस प्रकार की विह्वलता सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद तथा वैष्णवों की प्रेमलक्षणाभक्ति से समन्वित है । संक्षेप में उनकी यह भक्ति नितान्त भावमूला है ।

---

१. 'अजहुं न निकसे प्रान कठोर, दरसन बिना बहुत दिन बीते,
सुंदर प्रीतम मोर, चार पहर चारहु जुग बीते,
रैन गंवाई भोर, अवध गये अजहुं नहिं आये,
कतहु रहे चितचोर । कबहुं नैन निरखि नहिं देखे
मारग चितवत तोर, दादू ऐसेहि आतुर विरहिनि,
जैसेहि चंद चकोर ।' —संत दादू, पृ.३८ ।

२. मोरार साहब र.मा.मो.वा. पृ. ७२ ।

३. प्री.बा.पृ.११६:७ ।

४. 'विरह तेल तन कोडिया, प्राण बनावु बात,
कहे प्रीतम पतिकुं मिलन, जारत हुं दिनरात ।'
—प्री.वा. पृ.१२०:७ ।

<u>विनय एवं दीनता :</u> गुजरात के सन्तों की भक्ति का स्वरूप एवं प्रतिपाद्य विषय है भक्त का भगवान से तादात्म्य । भक्त और कुछ नहीं चाहता, वह तो मात्र भगवान के चरणों में शरण चाहता है । भगवान के दर्शन के लिए उसे द्वार पर खड़े रहना मंजूर है, जूठन खाना मंजूर है, भूखा रहना भी मंजूर है ।[1] सन्तों की दास्यभावना में अनन्यता तथा आत्म निवेदन का भाव सर्वाधिक है ।[2] यहाँ तक कि उनकी प्रेमभक्ति भी दास्यभाव से अनुप्रेरित है । मन की चंचलता के कारण आत्मा परवश है । भक्ति का पंथ अबूझ तथा अकेला है, न कोई संगी है और न साथी है । इसलिए दीनता तथा विनय की भावना में इन्होंने अपनी हीनतम अवस्था तथा हृदय की निखालसता का परिचय दिया है ।[3] ठाकुर के समक्ष दास अपनी दुर्बलता को क्यों छिपाये ? उसके दरबार में नीच से नीच प्राणी की भी पुकार सुनी गयी है । इनके सम्मुख सैना, धना, पीपा, रोईदास, गणिका, गीध और अजामिल आदि के दृष्टान्त प्रेरणा एवं आस्था के सबल बल हैं ।

---

१. 'गरीब निवाज मैं गरीब तेरो, प्रणतपाल दयाल गुरु देवा
   राखो चरन शरन को चेरो ।
   द्वार पड्यो रहुं मैं दर्शन पाऊँ, जूठ ही पाऊँ, रहुं निनेरो ।
   दूर न जाऊँ तुम गुण गाऊँ, आपही जान्यो अपने घर केरो ।
   —मोरार साहब, –
   र.भा.मो.वा., पृ.७० ।

२. 'अनन्यभाव उपासना, गुरु ईश्वर की होय ।
   कहे प्रीतम त्रिलोक में, विघन करे नहिं कोय ।'–प्रीतमदास भक्तिअंग–२ ।

३. 'तिल तिल का अपराधी तेरा, रती रती का चोर ।
   पल पल का मैं गुनही तेरा, बक्शो औगुन मोर ।।'
   —दादू, संतबानी संग्रह,–भाग–१,पृ.८५ ।

भक्ति के साधन :

१. मानवदेह : सन्तों की दृष्टि में भक्ति का सबसे प्रमुख साधन है—मानव-देह । मानव-देह मनुष्य के संचित कर्मों का फल है ।[१] मानव-देह मिट्टी और खून से चिना हुआ एक ऐसा बंगला है, जिसमें तीन सौ साठ चीरी तथा चौसठ बंध हैं, बहत्तर कोठे और दो जाली हैं जिस पर चमड़े का वितान : आवरण : तना है । इस बंगले में सुषुम्णा नारी सेज बिछा कर सो रही है और अनहद का बाजा निरन्तर बज रहा है ।[२] दादू ने इसे मुक्ति का द्वार कहा है । दास मोरार ने मनुष्य की देह को महामणि कहा है जो सभी सुखों को देने वाली है । ऐसी मानव देह बार बार प्राप्त नहीं होती जिसमें नर नारायण का एक साथ वास होता है ।[३] दादू के शब्दों में माटी की काया का सार तभी है जबकि उसमें भाव भक्ति का समावेश होता है ।[४]

२. आस्था एवं लगन : आस्था एवं लगन भक्ति के लिए दूसरा सोपान है । सारा जग रुठे तो रुठ जाने दो परन्तु भक्त का भगवान

---

१. 'नक्कारा मौतका बाजे, कि सावन मेघज्युं गाजे ।
 ०० ०० ०० 
अमूलख अवसर आयो, दुर्लभ देह मनुष्य को पायो ।'—गवरी कीर्तन माला पृ.१३६:३१२ ।

२. 'रवि साहब', र.भा.मो.वा., पृ.१८ ।

३. 'महामणि मनुष्यादेह तेरी, सब सुखकारी सबन के टीके,
बहोर न आवे अवसर ऐसे, नरनारायण निजपद निके ।
तजो गुमान ग्रहो गुरुचरणा, जो भल चाहिए आपनी भलाई,
दास मोरार कहे महापद पावे, सद्गुरु संत को करले सहाई ।'र.भा.मो.वा,पृ.७१

४. 'भाव भगति माटी भई, काया कसणी सार दै ।' दादू १।२६ ।

नहीं रूठना चाहिए ।[1] क्योंकि जिसकी कोई रक्षा नहीं करता उसकी रक्षा ईश्वर करता है ।[2] उसे मनाने के लिए न चातुरी की आवश्यकता है और न रूप, कुल अथवा जाति की आवश्यकता है वह तो भावना और विश्वास का भूखा है ।[3] सिद्धि के पथ में बोध की अपेक्षा लगन की आवश्यकता है ।[4] इसी तन्मयता के वश प्रिय विरहिणी सती अग्नि ज्वालाओं को देख कंपित नहीं होती और आकाश के मेघ धरती की प्यास बुझाने के लिए नीचे उतर आते हैं ।[5]

३. <u>गुरु कृपा :</u> सत्संग, संत कृपा, अथवा गुरु कृपा भी भक्ति के अपूर्व साधन हैं । सतगुरु ही एक ऐसा बांध है जो अनेक पुण्यों की बहती हुई कमाई : काया : के बहाव को रोक सकता है और जो माया के आवरण से मुक्ति दिला सकता है ।[6] अखा के शब्दों में सत्संगी पुरुष ही 'महारस' का भोक्ता होता है ।[7] प्रीतम ने कहा है कि मन रूपी मधुकर को गुरु-चरण में आसक्त करने पर राम रूपी सुधारस का पान किया जा सकता है ।[8] इन

---

१. 'सब जग रूठा रूठन दे, मोरा राम न रूठा जाये ।' आनन्द तनय, अ.म.मा.भा.२पृ.२

२. 'हमरे तुमही हो रखपाल । तुम बिन और नहीं कोउ मेरे, मो दुख मेटणहार ।' दादू

३. 'साँई न चाहे चातुरी, रूप, वरन, कुल-जात,
भाव, भरोसा देखे अखा, तब पियु पकड़े हाथ ।' अखो, श्री.अ.सा., ४८:१० ।

४. छोटमकृत साखियाँ : आतुरता को अंग-१ :

५. वही १२ ।

६. 'माया में से दूर किया ने आना एक ही पार,
सतगुरु मोए आन मिले ए देह धरे का सार ।
काहा जाने आ कुन कमाई कुन पुन से आई बसे है उर,
सतगुरु मोए आनमीले नीतो बहै जाने बेपूर ।' संतराममृत गुरु बावनी पदसंग्रह २:६

७. अ.वा.म.प., पृ.२५४, पद ५१ ।

८. प्री.वा, गुरु महिमा अंग- ३ ।

सन्तों की दृष्टि में गुरु का पद ईश्वर से भी अधिक है ।[1] गुरु को जो विशुद्ध भाव से देखता है, उसे वह ब्रह्मरूप भगवान के समान ही दिखायी देता है ।[2]

४. <u>नाम-स्मरण :</u> उत्तरी भारत के सन्तों की भाँति गुजरात के सन्तों ने भी नाम-स्मरण की महत्ता का प्रतिपादन किया है । कबीर ने जिस प्रकार राम स्मरण को भक्ति का मूल[3] और तुलसी ने उसे मणिदीप[4] कह कर सम्बोधित किया है जिसके माध्यम से अन्दर और बाहर सभी जगह सुख और प्रकाश की उपलब्धि होती है, उसी प्रकार अखा ने राम के नाम को एक ऐसा रसायन कहा है जिसे पीकर नयन छक कर चूर हो जाते हैं । और जिसकी खुमारी एक बार चढ़ने पर कभी उतरती नहीं ।[5] प्रीतमदास ने इसे एक ऐसी 'पारसमणि 'कहा है जिसके स्पर्श मात्र से मन रूपी लोहा सोना हो जाता है ।[6] दिलरूपी दरिया में यह एक ऐसा अमूल्य रत्न है जिसे कोई मरजीवा ही पा सकता है ।[7] तप, तीर्थ, व्रत,

---

१. प्री.वा., गुरु महिमा अंग २ । २.प्री.वा.,गुरु महिमा अंग ६ ।
३. 'सत्त नाम है सबतें [redacted] न्यारा । निर्गुण-सर्गुन शब्द पसारा ।।
निर्गुण बीज सर्गुन फल-फूला । साखा ज्ञान नाम है मूला ।।
मूल गहेतें सब सुख पावै । डाल पात में मूल गँवावै ।- कबीर, पृ.२७६,पद ८० ।
४. 'राम-नाम मणिदीप धर, जीह-देहरी द्वार ।
तुलसी भीतर बाहिरो, जो चाहत उजियार ।।
५. 'राम रसायन जब जिनहि पियो है, ताके नैन भये कछु औरा ।'
अ.वा.म.प., पृ.२७५, पद ६५ ।
६. 'राम-नाम पारसमणी, मन-लोह होय हेम ।
कहे प्रीतम एक नाम सें, करहु निरंतर प्रेम ।।'
७. 'राम-रतन अमूल्य है, दिल दरिया के माहि,
प्रीतम मरजीवा लहे, दूजा पावे नाहिं ।।'

दान, मैं सभी साधन नाम स्मरण के आगे फीके हैं। यह तो चिन्तामणि, कल्पद्रुम और काम धेनु के समान है जिसका रटन करने पर जन्म मरण का भय सदैव के लिए दूर हो जाता है।[1] धीरा ने इसीप्रकार हरिनाम की महिमा का गुणगान करते हुए कहा है कि—

'ऐसो महिमा हरिनाम को,
हो संतो एही है काम को। टेक
पूरन सूरदास गोविन्द गुन गावे,
कबीर संत महाज्योत मिलावे,
अनुभव अभ्यास रहे अविनाशी
प्रभुपद दासको निवास निज धाम को।[2]

निरांत ने नाम-साधना को निरंजन की स्तुति से भी ऊँचा माना है।[3] शब्द की ताली लगते ही वस्तुत: ब्रह्मांड के द्वार अपने आप खुलते जाते हैं और नव खंडों मैं उजाला फैल जाता है।[4] गुजरात के सन्तों ने इसीलिए 'राम' और 'श्याम' का भी कोई भेद स्वीकार नहीं किया।[5] उस चिन्मय ब्रह्म का स्मरण किसी भी नाम से किया जा सकता है। उसके स्मरण-बिना-जीव को कभी सुख-चैन नहीं मिल सकता।[6] उसका नाम लेते ही करोडों विषय-

---

१.धी.वा., नाम महात्म्य अंग, साखी ६—११।
२.प्रा.का.मा., ग्रन्थ २४, पृ.२०८, पद १२।
३.'नाम निरंजन से अधिक, सब नाम एक निज नाम।
सब घट मैं व्यापी रहे, नाम निरंजन ठाम।।'—निरांत काव्य,पृ.२:१०।
४.'जीतामुनि, संतोनी वाणी' पृ.१५८।
५.'राम श्याम रवि एक ही, सुन्दर सगुण सरूप।'—रवि-साहब।
६.'जिक्र बिना करतार के, जीवन न पावत चैन,
चहुं दिसि दुख मैं डूबते, फूट रहे दो नैन।' दीन दरवेश।

व्याधियों से मुक्ति मिल जाती है । नाम-स्मरण एक ऐसी औषधि है जिसका सेवन करते ही काया कंचन की भाँति चमक उठती है ।[१]

निष्कर्ष :

सैद्धान्तिक दृष्टि से गुजरात के सन्तों ने ब्रह्म, जीव और जगत की एकरूपता ही प्रतिपादित की है । उन्होंने जहाँ एक ओर ब्रह्म की अखंड सत्ता का प्रस्थापन किया है, वहाँ दूसरी ओर जगत को ब्रह्म की व्याप्ति कह कर उसे ब्रह्म से अभिन्न ही माना है । इन सन्तों की दार्शनिक विचारधारा पर मुख्यत: गौडपाद के अजातवाद, शंकर के अद्वैतवाद, रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद और सूफियों के प्रेमवाद का प्रभाव पड़ा था । इस रूप में दार्शनिक निरूपण की दृष्टि से गुजरात के सन्तों की चार स्पष्ट धारायें प्रतीत होती हैं —

१. अजातवादी धारा : जिसमें अखा, नरहरि, गोपाल, मनोहर, बूटिया, लालदास, कल्याणदास और सन्तराम आदि सन्तों की दार्शनिक विचारधारा का समावेश किया जा सकता है ।

२. अद्वैतवादी धारा : जिसमें दादू, धीरा, निरांत, बापू साहब गायकवाड़, प्रीतम, भोजा, छोटम और रविसाहब आदि सन्तों की दार्शनिक विचार-पद्धति का समावेश किया जा सकता है ।

३. विशिष्टाद्वैतवादी धारा : जिसमें प्राणनाथ, लालदास, बालकदास, मुकुन्ददास आदि प्रणामी सन्तों की विचार-सरणि का समावेश हो सकता है ।

४. सूफी प्रेमवादी धारा : जिसके अन्तर्गत काजी महमूद दरियायी, शेख बहाउद्दीन बाफन, शाह अलीजी गामधनी, मुरादमीर, खूब मुहम्मद चिश्ती, अनवर, सागर, तथा

---

१. 'राम नाम निज औषधी, काटे कोटि विकार ।
विषय व्याधि थे ऊबरे, काया कंचन सारे ।। — दादू ।

सत्तारशाह चिश्ती आदि सन्तों की उत्कट भावाभिव्यक्ति में अध्यात्मवाद का अपूर्व समन्वय हुआ है ।

उपर्युक्त वर्गीकरण मात्र व्यावहारिक दृष्टि से ही किया गया है क्योंकि गुजरात की संतवाणी विभिन्न दर्शन-पद्धतियों से प्रभावित होती हुई भी विभिन्न पथों का निर्देश नहीं करती । सन्तों ने अपने विचारों में शास्त्र-ज्ञान की अपेक्षा परमज्ञान को ही महत्त्व दिया है । इनकी दृष्टि में शास्त्रज्ञान एकाकी है जबकि परमज्ञान स्वसंवेद्य एवं स्वानुभूतिमूलक है ।

साधना के क्षेत्र में गुजरात के सन्तों ने ज्ञान तथा भक्ति को एक दूसरे का पूरक माना है । इनकी भक्ति निर्गुण-सगुण के भेद से परे है । भक्ति इनके लिए आत्म-प्रतीति का सर्वश्रेष्ठ माध्यम है । इनकी भक्ति वस्तुत: अन्तर्मुखी होते हुए भी नितान्त भावमूलक है जिसमें एक ओर वैष्णवों की प्रपत्ति-भावना है तो दूसरी ओर सूफियों की सी मस्ती है । आस्था एवं लगन, मनुष्य-देह, सत्संग, गुरु-कृपा तथा नाम-स्मरण इनकी भक्ति के प्रमुख साधन हैं ।

०० ०० ००